Pandit Rampratap Shastri Publications Series No. 6

The
ŚRĪ BHRAMARA-GĪTA

TRANSLATED
with
AN EXPOSITION IN HINDI
by
MRS. GITA DEVI JOSHI
MEXICO

FOREWORD
by
DR. RASIK VIHARI JOSHI
M.A., PH.D., D. LITT. (PARIS)
Professor of Sanskrit
UNIVERSITY OF DELHI
and
Visiting Professor of Sanskrit and Philosophy
EL COLEGIO DE MEXICO, MEXICO

CSUQCKL 2
Q22:223
Acc.No: 16081
16081

1983

Pandit Rampratap Shastri Charitable Trust
BEAWAR (Raj.) INDIA

Pandit Rampratap Shastri Publications Series No. 6

General Editor
PROF. DR. R. V. JOSHI

The
ŚRĪ BHRAMARA-GĪTA

PRESENTED BY THE MINISTRY OF
HUMAN RESOURCE DEVELOPMENT
GOVERNMENT OF INDIA.

1983

Pandit Rampratap Shastri Publications Series

BOARD OF EDITORS

DR. RASIK VIHARI JOSHI
M.A., Ph.D. (Banaras), D. Litt. (Paris), General Editor, Mexico

DR. GOPIKA MOHAN BHATTACHARYA
M.A., D. Phil. (Cal.), D. Phil. (Vienna), Kurukshetra

DR. MADAN MOHAN AGRAWAL
M.A., Ph.D., Banasthali

Pandit Rampratap Shastri Publications Series No. 6

The
ŚRĪ BHRAMARA-GĪTA

TRANSLATED
with
AN EXPOSITION IN HINDI
by

MRS. GITA DEVI JOSHI
MEXICO

FOREWORD
by

DR. RASIK VIHARI JOSHI
M.A., PH.D., D. LITT. (PARIS)
Professor of Sanskrit
UNIVERSITY OF DELHI
and
Visiting Professor of Sanskrit and Philosophy
EL COLEGIO DE MEXICO, MEXICO

Pandit Rampratap Shastri Charitable Trust
BEAWAR (Raj.) INDIA

Published by :
Pandit Rampratap Shastri Charitable Trust
34, Rampratap Shastri Marg,
Beawar (Rajasthan)

Branch Office :
C/o Radha Krishna General Store
Chowk Bazar,
SADABAD (Mathura)-281306

© Mrs. GITA DEVI JOSHI

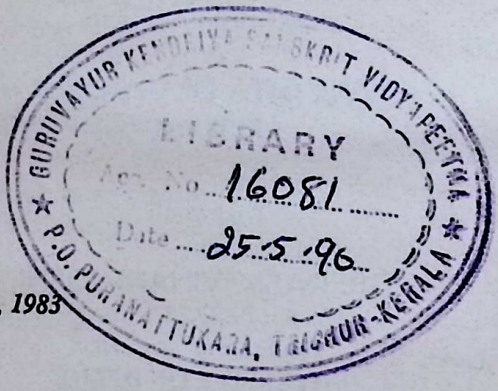

First Print : *July, 1983*
●
Price : Rs. 20·00

Q22:223

Printer :
Jainsons Printers
4/45 Takia Wazir Shah,
Seth Gali, AGRA-3

पण्डित रामप्रताप शास्त्री ग्रन्थमाला संख्या ६

श्रीभ्रमरगीतम्

(श्रीमद्भागवतान्तर्गतम्)

अनुवादिका तथा व्याख्याकर्त्री
श्रीमती गीतादेवी जोशी
मेक्सिको

भूमिका लेखक
डॉ. रसिक विहारी जोशी
एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट् (पेरिस)
प्रोफेसर ऑफ संस्कृत
दिल्ली विश्वविद्यालय
तथा
विजिटिंग प्रोफेसर ऑफ संस्कृत एण्ड फिलासफी,
एल कोलेहियो द मेहिको, मेक्सिको

पण्डित रामप्रताप शास्त्री चेरिटेबल ट्रस्ट
ब्यावर (राजस्थान)

प्रकाशक :
पण्डित रामप्रताप शास्त्री चेरिटेबल ट्रस्ट
३४, रामप्रताप शास्त्री मार्ग;
ब्यावर (राजस्थान)

ब्रांच ऑफिस :
द्वारा
राधाकृष्ण जनरल स्टोर
चौक बाजार, सादाबाद (मथुरा)
पिन : 281306

© श्रीमती गीतादेवी जोशी

प्रथम संस्करण : जुलाई 1983

मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक :
जैनसन्स प्रिन्टर्स
४/४५ तकिया वजीरशाह, सेठगली, आगरा-३

मेरी बात

तीन-साढ़े तीन साल पहले जब मैं मेक्सिको आई तो सबसे बड़ी समस्या भाषा की हुई। यहाँ सब स्पेनिश बोलते हैं। अंग्रेजी के तो दो शब्द भी कहीं सुनने को नहीं मिलते। स्पेनिश भाषा के ज्ञान की अपेक्षा को अनिवार्य देखकर मैंने तत्काल स्पेनिश पढ़ना शुरू कर दिया। इसके दो लाभ हुए। एक तो यहाँ के समाज में तथा सांस्कृतिक जीवन में प्रवेश होने लगा और दूसरा मेरे पति डॉ..रसिकविहारी जोशी के जगह-जगह अनेक विद्यासंस्थानों में भारतीय दर्शन पर स्पेनिश भाषा में होने वाले व्याख्यानों को सुनने तथा समझने का आनन्द आने लगा। शीघ्र ही इनके पास घर पर जिज्ञासुओं के दल के दल आने लगे। कोई दल संस्कृत पढ़ने लगा, तो कोई भारतीय दर्शन, तो कोई भारतीय धर्म पढ़ने लगा। जैसे-जैसे मेरा स्पेनिश भाषा का ज्ञान बढ़ता गया, मैं भी इनके विद्यार्थियों के साथ संस्कृत भाषा का विधिवत् अध्ययन करने लगी। इस प्रकार जब मेरा स्पेनिश, संस्कृत तथा भारतीय दर्शन में कुछ प्रवेश होने लगा तो मैंने इनसे श्रीमद्भागवत पढ़ने का श्रीगणेश किया। सौभाग्य से यहाँ के विद्यासंस्थान के पुस्तकालय में श्रीमद्भागवत के हिन्दी अनुवाद के साथ एक दो संस्करण भी मिल गए। सबसे पहले इन्होंने मुझे 'भ्रमरगीत' पढ़ाना शुरू किया और भ्रमरगीत के रहस्य को खूब समझाया। मैंने हिन्दी संस्करणों तथा इनकी पढ़ाई हुई व्याख्या के आधार पर चुपचाप अपने ज्ञान की स्थिरता के लिए भ्रमरगीत का हिन्दी अनुवाद लिखना शुरू किया। एक दिन संयोग से इन्होंने मेरी डायरी में भ्रमरगीत के अनुवाद तथा व्याख्या के कुछ अंश देख लिए तो बहुत प्रसन्न हो गए और कहने लगे कि यह तो प्रकाशन करने योग्य है। उस अनुवाद को भलीभाँति देखकर इन्होंने अनेक सुझाव दिए। मैंने तदनुसार दुबारा नए ढंग से लिखा किन्तु इनको सन्तोष नहीं हुआ। इन्होंने फिर अनेक जगह भाषा, विषय तथा उपहरण में परिवर्तन तथा परिवर्धन किए और फिर ढेर सारे सुझाव दे दिए। इस बार तो मैं बिल्कुल हताश हो गई और मैंने हिम्मत छोड़ दी कि मैं नहीं लिख सकती। इन्होंने मेरा बहुत उत्साह बढ़ाया और जब मैंने तीसरी बार लिखा तो कहा कि हाँ, अब ठीक है। मुझे तो अभी भी यह विश्वास नहीं हो पाता है कि मैं इस व्याख्या को लिख पाई हूँ। वास्तव में प्रस्तुत ग्रन्थ इस उक्ति की चरितार्थता का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि 'पारसमणि के स्पर्शमात्र से लोहा भी सोना हो जाता है'। इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह डॉ. जोशी के पाण्डित्य तथा सौजन्य के सम्पर्क का फल है कि इन्होंने मुझ जैसी साधारण स्त्री से भी इस प्रकार की उत्तम रचना करा दी।

इस ग्रन्थ को पण्डित रामप्रताप शास्त्री ग्रन्थमाला में प्रकाशन के लिए स्वीकार कर लिया गया है। यह मेरा अहोभाग्य है। मैं मेरे श्वसुरजी पण्डित श्री रामप्रतापजी शास्त्री जी महाराज के श्रीचरणों में इस ग्रन्थ द्वारा अपनी सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती हूँ। जिनकी कृपा से मेरी श्रीकृष्ण-भक्ति में, श्रीमद्भागवत में, संस्कृत स्तोत्रों के सस्वर पाठ में तथा संस्कृत श्लोकों की माधुरी का रसपान करने में रुचि उत्पन्न हुई थी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि गोलोकधाम में रहते हुए भी वे मेरे इस ग्रन्थ से बहुत प्रसन्न होंगे। मैं तो इस ग्रन्थ को लिखकर धन्य हो गई हूँ। यदि इस ग्रन्थ से विद्वानों तथा सहृदय भक्तों का कुछ भी लाभ हुआ तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगी। यदि इसमें कुछ गल्तियाँ रह गई हों तो पाठक मुझे क्षमा करने की कृपा करेंगे और यदि कुछ ग्राह्य गुण या उपादेयवस्तु मिले तो वह डा. जोशी के मेरे प्रति अथाह प्रेम का फल समझेंगे। मैं इस ग्रन्थ को मेरे प्राणप्रिय पति डॉ. रसिकविहारी जोशी को ही समर्पित करती हूँ और व्रज की गोपियों की चरणरज को सादर प्रणाम करती हूँ।

मेक्सिको सिटी
७ अप्रैल, १९८३

श्रीमद्भागवत की शरण में,
गीता देवी जोशी

भूमिका

श्रीभ्रमरगीत का प्रस्तुत संस्करण 'पण्डित रामप्रताप शास्त्री ग्रन्थमाला' का छठा ग्रन्थ है। श्रीमद्भागवत महापुराण में आठ गीत प्राप्त होते हैं : (१) वेणुगीत १०, २१। (२) गोपीगीत १०, ३१। (३) युगलगीत १०, ३५। (४) करुणागीत १०, ३९। (५) भ्रमरगीत १०, ४७। (६) भिक्षुगीत ११, २३। (७) ऐलगीत ११, २६। (८) भूमिगीत १२, ३। ये गीत मधुर उपासना पद्धति तथा दार्शनिक ज्ञान के खजाने हैं। यद्यपि ये गीत बहुत छोटे-छोटे से हैं। केवल एक अध्याय का ही इनका कलेवर है। फिर भी इन गीतों में चिन्तन का सूक्ष्मतत्त्व ठूंस-ठूंस कर भरा है। इन गीतों को भक्तिशास्त्र के पाण्डित्य की कसौटी कह सकते हैं।

दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध का सैंतालीसवाँ अध्याय भ्रमरगीत के नाम से विख्यात है। इस अध्याय में कुल ६९ श्लोक हैं। इसमें श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर उद्धव गोकुल आते हैं और गोपियों के साथ उनकी बात-चीत होती है। इस अध्याय को निम्नलिखित पाँच भागों में बाँटा जा सकता है :

(१) पहला भाग शुरू के १० श्लोकों का है। इसमें गोपियों ने मिलकर उद्धव से प्रश्नोत्तर किए हैं और श्रीकृष्ण को उपालम्भ दिए हैं। उपालम्भवचनों के बीच में औपाधिकी तथा निरूपाधिकी मित्रता के स्वरूप की अच्छी चर्चा हुई है।

(२) दूसरा भाग ११वें श्लोक से २१वें श्लोक तक का है। गोपियों के उपालम्भ-वाक्यों से एक विशेष गोपी का परितोष नहीं हुआ और ११वें श्लोक से एक भ्रमर के साथ बातचीत करने के बहाने उसने उद्धव को अपने हृदय के उद्गार सुनाए हैं। यह गोपी परममानिनी गोपी थी। इसने उद्धव के साथ सीधे बात करना भी उचित नहीं समझा। इस गोपी को धनपति सूरि ने अपनी गूढ़ार्थदीपिका टीका में तथा अन्यान्य संस्कृत टीकाकारों ने श्रीराधा बताया है। यह सत्य है कि श्रीमद्भागवत महापुराण में श्रीराधा का प्रत्यक्ष नामनिर्देश कहीं नहीं मिलता, किन्तु कई जगह 'एक गोपी' तथा 'श्रीप्रिया' का उल्लेख प्राप्त होता है। संस्कृत टीकाकारों की सहमति है यह 'गोपी' राधारानी ही है। श्रीप्रिया तो श्रीराधा के पर्यायवाचक शब्द के रूप में वैष्णव परम्परा में रूढ़ है। १२वें श्लोक से २१वें श्लोक तक के दश श्लोकों में इस प्रधान गोपी की भ्रमर के साथ बातचीत होती है। वास्तव में यह 'दशश्लोकी' ही भ्रमरगीत कहलाती है। यही प्रस्तुत अध्याय का हृदय है। भ्रमर के साथ वार्तालाप होने के कारण ही इस अध्याय की भ्रमरगीत संज्ञा हुई है। ये श्लोक अत्यन्त कठिन हैं। इनके भ्रमरपक्ष, उद्धवपक्ष तथा श्रुतिपक्ष में तीन-तीन अर्थ होते हैं। ग्रन्थकर्त्री ने

इन अर्थों को यहाँ अच्छी तरह समझाया है। श्रीमद्भागवत महापुराण का ही दूसरा नाम पारमहंसी संहिता है। यह श्रीमद्भागवत के प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्राप्त होने वाली पुष्पिका से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है। इस प्रकार भ्रमरगीत के इन श्लोकों के श्रुतिपक्ष में परमहंसों तथा साधक जीवात्मा को साधना एवं आत्मचिन्तन से सम्बन्धित अर्थों के सन्देश-सूत्र प्राप्त होते हैं। श्रुतिपक्ष के इन अर्थों में वेदान्तशास्त्र का निचोड़ पिरो दिया गया है। जीवात्मा, परमात्मा, माया तथा जगत् का विश्लेषण, अध्यास तथा अध्यारोप-अपवादन्याय की व्याख्या, साधनचतुष्टय का महत्त्व, महावाक्यों का रहस्य तथा ब्रह्म-सायुज्य के सरल उपाय समझाए गए हैं। इस दशश्लोकी में राधारानी ने श्रीकृष्ण के प्रति अपने हृदय की तीव्र विरह वेदना भ्रमर से बातचीत करने के बहाने उद्धव को सुनाई है।

(३) तीसरे भाग में उद्धव ने गोपियों की प्रशंसा करते हुए भक्ति की उत्पत्ति के सात साधन, भक्ति का लक्षण, भक्ति के विघ्न तथा 'भाव' की महिमा समझाई है। २९वें से ३७वें श्लोक तक की सप्तश्लोकी में श्रीकृष्ण का गोपियों के प्रति सन्देश है। श्रीकृष्ण का यह उपदेश-सन्देश 'सप्तश्लोकी गीता' कही जा सकती है। यह उपदेश गीता प्रत्येक भक्त तथा ज्ञानी साधक के लिए कल्याण प्राप्त करने का खुला मन्त्र है। इसको बहुत सावधानी से हृदयंगम करना चाहिए। इसमें आत्मतत्त्व का गहन विवेचन है। आत्मा का लक्षण तथा स्वरूप, आत्मा तथा परमात्मा का अभेदज्ञान, चित्तनिग्रह के सात उपाय और नित्य अनुस्मरण तथा अनुध्यान का विवेचन हुआ है। अन्तिम को भगवत्प्राप्ति का आसन्नतम उपाय बताया गया है।

(४) चौथे भाग में ३८वें श्लोक से ५२वें श्लोक तक गोपियों ने कृष्णसन्देश से प्रसन्न होकर उद्धव को श्रीकृष्ण की कुशलवार्ता पूछी है।

(५) पाँचवें अन्तिम भाग में गोपियों ने उद्धव की पूजा की है क्योंकि अब गोपियों को परमार्थ में अद्वैत तथा व्यवहार में द्वैत का बोध हो गया है। अब गोपियों में एक तरफ कृष्णाद्वैत का भाव प्ररूढ़ है, तो दूसरी तरफ कृष्णभक्ति तथा कृष्णप्रेम का भाव भी प्ररूढ़ है। उद्धव कई महीने गोकुल में रहे। वे रोज गा-गाकर गोकुलवासियों को कृष्णलीला का अमृतपान कराया करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-कथाओं को सुनकर गोपियों का मन कालातीत अवस्था में पहुँच गया था। कभी तो वे योगी के समान ब्रह्मभाव में लीन होकर आचरण करती थीं, और कभी श्रीकृष्ण को अपने प्रिय सखा के रूप में याद करके मूर्छित हो जाती थीं। यह देखकर उद्धव आश्चर्य से मुग्ध हो गए और उन्होंने गोपियों की महिमा का खूब गुणगान किया, उनकी चरणरज को प्रणाम किया और गोपियों तथा व्रजवासियों की आज्ञा-अनुमति लेकर श्रीकृष्ण के पास मथुरा लौट आए।

श्रीमद्भागवत के इस सैंतालीसवें अध्याय को 'उद्धवगोपीसंवाद तथा उद्धव प्रतियान' भी कहा जाता है। किन्तु भ्रमरगीत के नाम से ही इसकी प्रसिद्धि अत्यन्त अधिक है। वैष्णव आचार्यों ने इसको मधुर उपासना पद्धति का अंग माना है। भ्रमर-

गीत के नित्य पाठ तथा चिन्तन से चित्तशुद्धि होती है और भगवान् श्रीराधाकृष्ण की कृपा प्राप्त होती है। वास्तव में भ्रमरजप की तरह भ्रमरगीत की उपासना की विधि भी गुप्त है और केवल वैष्णव उपासना पद्धति के किसी सिद्ध गुरु द्वारा ही जानी जा सकती है।

श्रीभ्रमरगीत की यह अनुवाद-व्याख्या खूब प्रामाणिक बन पड़ी है। यह अनुवाद-व्याख्या प्रिय गीता के ही स्वयं अपने अथक परिश्रम का फल है। मैंने इसमें यत्र-तत्र व्याकरणशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा वेदान्तशास्त्र सम्बन्धी टिप्पणियों में कुछ आवश्यक परिवर्तन तथा परिवर्धन किए हैं। भाषा तथा ग्रन्थ के उपहरण को उपस्थित करने में भी कुछ परिमार्जन किया है। इस ग्रन्थ में व्रज की गोपियों के प्रेमभाव की ध्यान-तन्मयता, श्रीराधाकृष्ण की अद्वयज्ञानरूपता और अद्वैतवेदान्त की पृष्ठभूमि में वैष्णव वेदान्त के मूल सिद्धान्तों का अच्छा बीज-विश्लेषण हुआ है। भक्तिमार्ग में निरन्तर अनुस्मरण तथा अनुध्यान की प्रक्रिया को ही भगवत्प्राप्ति का मूल कारण माना गया है। यह भ्रमरगीत की व्याख्या से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। यह भी बताया गया है कि किस प्रकार जीवात्मा अपनी कर्मगति से निजस्वरूप को भूलकर कर्मकर्तृत्व के अभिमान के कारण संसारचक्र में भटक-भटक कर चक्कर लगाता रहता है। किस प्रकार अज्ञान तथा अहंकार से भरा हुआ दुःख तथा प्रपंच में फँसा रहता है। श्रीभ्रमरगीत की चिन्तन पद्धति से यह, इस अज्ञान तथा कर्मचक्र से छूटकर, निज-स्वरूपानुसन्धान करता हुआ भक्तिमार्ग से कृष्ण-सायुज्य प्राप्त कर सकता है।

प्रिय गीता की यह पहली कृति है। मैं उसे हार्दिक कल्याणमय आशीष् से अभिषिक्त करता हूँ कि उसने श्रीमद्भागवत के श्रीभ्रमरगीत जैसे कठिन अंश की व्याख्या करने का साहस किया है। यह बड़ी ही प्रसन्नता की बात है कि यह व्याख्या बहुत प्रामाणिक बन पड़ी है। मैं इसे भगवान् श्रीराधाकृष्ण की तथा पूज्यपाद पिताजी की कृपा-प्रेरणा का ही एकमात्र परिणाम समझता हूँ और 'पण्डित रामप्रताप शास्त्री ग्रन्थमाला' के प्रधान सम्पादक के रूप से मैं इस उत्तम कृति का स्वागत करता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ वैष्णव भक्तों, साधकों तथा विद्वानों में बहुत लोकप्रिय तथा उपादेय सिद्ध होगा। मैं पूज्यपाद पिताजी पण्डित श्री रामप्रताप जी शास्त्री जी महाराज के श्रीचरणों में अपनी ओर से तथा अपने परिवार के सभी सदस्यों की ओर से सादर चरणस्पर्श करते हुए प्रणाम करता हूँ, जिनके कृपाकटाक्ष की प्रेरणा से प्रस्तुत ग्रन्थमाला का आरम्भ हुआ था और जिसमें प्रकाशित ग्रन्थों के चिन्तन के परिणामस्वरूप आज प्रिय गीता ने श्रीभ्रमरगीत जैसे कठिन ग्रन्थ की यह सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है।

विजिटिंग प्रोफेसर ऑफ संस्कृत एण्ड फिलासफी
एल कोलेहियो द मेहिको
मेक्सिको सिटी
७ अप्रैल, १९८३

व्रज रज का चिन्तक
रसिक विहारी जोशी
(प्रधान सम्पादक)

श्रीभ्रमरगीतम्

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद गुरुदेव
पण्डित श्री रामप्रताप जी शास्त्री

श्रीभ्रमरगीतम्

(१)

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः
प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् ।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्-
मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ॥

श्रीशुकदेव बोले—

व्रजाङ्गनाओं ने श्रीकृष्ण के उस अनुचर को देखकर (घेर लिया), जिसकी बहुत लम्बी भुजाएँ थीं, जिसकी आँखें नवीन कमल के समान थीं, जिसने पीताम्बर धारण कर रखा था और जिसने कमल की माला पहिन रखी थी, जिसका मुख-अरविन्द चमक रहा था और जिसके (कर्ण-) कुण्डल मणियों से उज्ज्वल थे ।

एक दिन प्रातःकाल जब व्रज की गोपियाँ अपने-अपने घरों से बाहर निकलीं तब उन्होंने व्रज के मुख्य द्वार पर एक अत्यन्त सुन्दर सोने का रथ देखा । दिव्य रथ को देखकर वे सब आश्चर्य तथा कौतुक से खिंची हुई सी उस रथ के पास चली गईं । अभी वे चकित सी यही सोच रही थीं कि यह रथ किसका है कि उसी समय यमुना स्नान करके लौटते हुए उद्धव को देखा । उद्धव के दिव्य श्रीकृष्ण-तुल्य रूपसौन्दर्य तथा गम्भीर भावमुद्रा से उसके परिचय की जिज्ञासा से उन्होंने उसे घेर लिया ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि भारतीय संस्कृति के अनुसार साधारण रूप से लज्जा को स्त्रियों का सहज स्वभाव तथा सौन्दर्य का मापदण्ड माना जाता है । अच्छी कुलीन स्त्रियाँ परपुरुष को देखकर लज्जा से घर में छिप जाती हैं, अथवा दूसरी तरफ चली जाती हैं । तब व्रज की स्त्रियों ने अपरिचित उद्धव को कैसे घेर लिया । इसका यह उत्तर है कि परपुरुष से लज्जित नहीं होना नागरी स्त्रियों का स्वभाव होता है । नागरी स्त्रियाँ अपनी सहज सरल स्त्रीप्रकृति को छोड़कर एक प्रकार के बनावटी तथा दिखावटी व्यवहार का चोला पहिन लेती हैं । ग्राम्य स्त्रियाँ इस मिथ्या-आडम्बर से दूर रहती हैं । उनके मन तथा व्यवहार में किसी प्रकार की बनावट या

किसी प्रकार का झूठा दिखावा नहीं होता। व्रज की स्त्रियाँ भी ग्राम्य थीं। वे अपने व्यवहार में प्रकृति की सरलता तथा स्वाभाविकता के सहज भाव से समेटे हुए थीं। इसीलिए उनके मन में अपरिचित उद्धव के पास जाने में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ।

यदि यह कहा जाय कि ग्राम्य स्त्रियाँ तो परपुरुष को देखकर डरकर भाग जाती हैं, फिर गोपियाँ क्यों नहीं भागीं; इस शंका का निवारण करने के लिए यहाँ उद्धव के लिए 'कृष्ण-अनुचर' विशेषण दिया गया है। इसका यह आशय है कि श्रीकृष्ण तो व्रजराज हैं। उद्धव व्रजराज-श्रीकृष्ण के अनुचर हैं। जो व्रजराज-श्रीकृष्ण का अनुचर हो उससे व्रजराज-श्रीकृष्ण की सखियों को क्या भय हो सकता है। यदि यह कहें कि जो व्रजराज-श्रीकृष्ण की सखियाँ हैं, उनके लिए क्या यह उचित है कि वे अपने प्रियतम के नौकर-चाकर के साथ इस प्रकार बातचीत का प्रसंग शुरू करें तो यहाँ दूसरा विशेषण 'प्रलम्ब-बाहु' रखा गया है। इसका तात्पर्य है कि यह कोई साधारण अनुचर नहीं है। यह तो कोई दिव्य पुरुष है, जिसकी बड़ी लम्बी-लम्बी भुजाएँ हैं। सामुद्रिकशास्त्र में 'आजानुबाहु' होना महापुरुष का लक्षण माना जाता है। इतना ही नहीं बल्कि उस अनुचर ने उत्तम पुरुष के समान पीताम्बर तथा कमल की माला भी धारण कर रखी थी। कानों में मणि-खचित सुवर्ण-कुण्डल पहिन रखे थे। इन सबसे यह स्पष्ट था कि वह अनुचर श्रीकृष्ण का साधारण अनुचर नहीं था। वह तो श्रीकृष्ण का कोई विशेष कृपापात्र व्यक्ति था। अपने स्वामी व्रजराज-श्रीकृष्ण के अनुग्रह की पात्रता के प्रमाण के रूप में उद्धव के पास स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा कृपा से दिए गए वस्त्र, माला तथा कुण्डल विद्यमान थे। इतना ही नहीं, उद्धव का स्वरूप-सौन्दर्य भी साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के समान था। रूपसौन्दर्य तथा वस्त्र-अलंकार-सौन्दर्य दोनों मिलकर उद्धव की महत्ता को प्रकट कर रहे थे। यही सोचकर गोपियों ने उद्धव का अनुसरण करने में किसी प्रकार का दोष नहीं समझा। यह एक साधारण लोकप्रतीति है कि जब कोई व्यक्ति अपने प्रिय व्यक्ति से बिछुड़ जाता है तब उस प्रिय व्यक्ति के किंचिन्-मात्र सादृश्य से भी उसे सुख मिलता है। सादृश्य दर्शन से अपने प्रिय की स्मृति होती है। अतः सादृश्यवान् व्यक्ति भी आदर का विषय होता है। जब प्रिय व्यक्ति सादृश्य का अतिशय हो अर्थात् रूप तथा वस्त्र विन्यास आदि सब प्रिय के समान हो तब प्रिय के दर्शन-सुख की स्मृति ताजा हो जाती है और ऐसा व्यक्ति अधिकतम आदर का विषय बन जाता है।

(२)

शुचिस्मितः कोऽयमपीच्यदर्शनः
कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुका-
स्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥

यह कौन है ? कहाँ से आया है ? किसका है ? इसका दर्शन बहुत सुन्दर है। इसकी मुस्कराहट शुद्ध है। इसकी वेष-भूषा अच्युत-श्रीकृष्ण की वेष-भूषा के समान है। इस प्रकार उत्सुक सी व्रजांगनाओं ने श्रीकृष्ण के उस अनुचर को चारों तरफ से घेर लिया, जिसने उत्तम श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल का आश्रय ले रखा था।

उद्धव ने भगवान् श्रीकृष्ण के समान ही पीताम्बर आदि वस्त्र तथा मणिखचित सुवर्ण-कुण्डल धारण कर रखे थे। इस प्रकार की वेष-भूषा वाला दूसरा कोई भी व्यक्ति गोकुल में नहीं था। स्वयं अक्रूर का भी रूप-सौन्दर्य ऐसा नहीं था। इसलिए व्रजांगनाओं के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक था। उद्धव को देखकर उनके मन में बड़ा सम्मोह उत्पन्न हो गया।

(क) एक गोपी ने सोचा कि क्या यह कोई कपटी कामी व्यक्ति है जिसने श्रीकृष्ण के समान रूप धारण कर रखा है। संभवतः इसने कहीं सुन लिया है कि गोपियाँ श्रीकृष्ण की काली-काली घुँघराली अलकावली पर, मोरमुकुट, पीताम्बर तथा वनमाला पर मुग्ध हैं। अतः श्रीकृष्ण के तुल्य वेष-भूषा देखकर तद्वेषधारी पुरुष पर मुग्ध हो जावेंगी। इस प्रकार कहीं कोई ठगी नट तो श्रीकृष्ण का वेष धारण करके नहीं आ गया है। इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

(ख) दूसरी गोपी ने विचार किया कि कहीं यह कोई धनलोलुप बहुरूपिया तो नहीं है जो श्रीकृष्ण का रूप बना कर आया है। इसने सोचा होगा कि अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के समान रूपविन्यास देखकर गोपियाँ प्रसन्न हो जावेंगी और पुरस्कार के रूप में बहुत धन प्रदान करेंगी। अतः इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

इस प्रकार की विविध उत्प्रेक्षाएँ करती हुई व्रजांगनाओं ने उद्धव को घेर लिया। इन उत्प्रेक्षा-शंकाओं के निवारण के लिए यहाँ 'शुचिस्मित' विशेषण दिया गया है। इसका यह आशय है कि जो व्यक्ति बहुरूपिया होता है उसकी मुस्कराहट भी नकली होती है। उद्धव की मुस्कराहट तो अत्यन्त शुद्ध थी। शुद्ध मुस्कराहट यह सिद्ध करती थी कि उद्धव का हृदय काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि विकारों से शून्य था। यही कारण था कि व्रजांगनाएँ निःसंकोच भाव से यह जानना चाहती थीं कि यह कौन व्यक्ति है ? इसका क्या नाम है ? यह कहाँ रहता है ? कहाँ से आया है ? किस नगर का निवासी है ? क्या हमारे प्राणप्रिय श्रीकृष्ण ने ही इसको अपने तुल्य वस्त्र तथा आभूषण पहिना कर हमारे पास भेजा है ? अथवा यह स्वयं ही यहाँ आया है। यह किसका पुत्र है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न गोपियों के मन में उठ रहे थे। प्राणप्रिय श्रीकृष्ण के सादृश्य के कारण यह कोई श्रीकृष्ण का सम्बन्धी पुरुष है। यह उत्कण्ठा भी उनके मन में थी। यदि कहें कि इस प्रकार की उत्कण्ठा की निवृत्ति तो किसी दासी को भेज कर भी की जा सकती थी। उनको स्वयं जाने की क्या आवश्यकता थी। तो यहाँ 'उत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रय' विशेषण दिया गया है। इसका

अभिप्राय है कि श्रीकृष्ण के चरणकमल ही उद्धव के एकमात्र आश्रय थे। जो श्रीकृष्ण पर आश्रित है, जो पूर्णरूप से श्रीकृष्ण के आश्रयी है, वह समस्त प्राणियों का आकर्षण तथा सम्मोहन करने में समर्थ है। गोपियाँ तो श्रीकृष्ण के चरण-विरह में इतनी व्याकुल थीं कि कृष्णाश्रित, कृष्णाश्रयी, कृष्णस्वरूपी तथा कृष्णानुचर उद्धव तक एक क्षण का विलम्ब भी उनको सह्य नहीं था। यदि ऐसी विरहिणी गोपियों का उद्धव के प्रति आकर्षण हो गया तो क्या आश्चर्य है।

(३)

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नृपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापते ॥

विनय से झुकी हुई व्रजांगनाओं ने लज्जा एवं हासपूर्वक ईक्षण से तथा मधुर एवं ऋतु वाणी से उन (उद्धव) का भलीभांति सत्कार किया और जब वे एकान्त में आसन पर बैठ गए तो उनको रमापति-श्रीकृष्ण का सन्देश लाने वाला निज-जन समझकर प्रश्न करना प्रारम्भ किया।

व्रजांगनाओं के मन में धीरे-धीरे जब यह भावना बलवती होने लगी कि यह तो उनके प्रियतम श्रीकृष्ण ही प्रिय सन्देशवाहक दूत है तो वे कुछ शरमा सी गईं और उन्होंने शर्मीली चितवन से तथा मन्द-स्मितपूर्वक सप्रेम निरीक्षण से उद्धव का स्वागत-सत्कार किया। मधुर वाणी से उनकी यात्रा का हालचाल पूछा, कुशलता पूछी और पुष्प आदि से उनकी पूजा की। यहाँ 'आदि' पद से चन्दन आदि पूजाद्रव्य का संग्रह कर लेना चाहिए। फिर उन्होंने उद्धव को एकान्त में अपने कोमल रेशमी दुपट्टों के आसन पर बिठा दिया और सहज भाव से प्रेम, विनय तथा आदर के साथ प्रश्न पूछने लगीं।

(१) उद्धव को एकान्त में बिठाने के दो आशय थे :

(क) गोकुल के बड़े-बूढ़े नन्द बाबा आदि की नजर न पड़ जाय।

(ख) एकान्त में रस की अभिव्यक्ति बहुत जल्दी होती है।

(२) गोपियों के मन में दो भाव थे :

(क) गोपियाँ यह समझ गई थीं कि उद्धव कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। उद्धव तो निष्काम थे। गोपियों से बातचीत करना अथवा गोपियों का आदर-सत्कार ग्रहण करना उनकी स्वयं अपनी इच्छा का विषय नहीं था। वे तो उनके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर भगवान् की इच्छा से ही वहाँ आए थे। अतः उनका गोकुल में आना, गोपियों के पास बैठना, गोपियों से बात-चीत करना सब गोपियों के लिए ही था। ऐसे निष्काम व्यक्ति से प्रश्न करके प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाने के लिए

अत्यन्त ही विनय भाव अपेक्षित होता है। निष्काम व्यक्ति उद्दण्डता, धृष्टता, अहंकार तथा अधिकार की भावना से अप्रसन्न हो जाते हैं। इसीलिए गोपियाँ विनीत तथा प्रीतिमयी थीं।

(ख) **रमापति** ! दूसरे भाव को प्रकट करने के लिए गोपियों ने श्रीकृष्ण को 'रमापति' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि गोपियाँ यह अच्छी तरह जान चुकी थीं कि उनके प्रिय श्रीकृष्ण अब ऐश्वर्य-भाव में प्रवेश कर चुके थे। साक्षात् भगवती श्रीदेवी अब उनकी नित्य सहचरी थी। अथवा अब श्रीकृष्ण रामाओं (नागरी स्त्रियों) के साहचर्य में विलसित थे। ऐसे रमापति-श्रीकृष्ण को भला व्रज की साधारण भोली-भाली ग्राम्य स्त्रियों से अब क्या प्रयोजन था। यह भी संभव नहीं प्रतीत होता था कि श्रीकृष्ण ने उनको वहाँ आने के लिए बुलाने की निमन्त्रण-पत्रिका भिजवाई हो। हाँ, कदाचित् यह संभव था कि श्रीकृष्ण के मन में यह आशंका उत्पन्न हो गई हो कि उनकी प्यारी भोली गोपियाँ कहीं उनके विरह में प्राण त्याग न दें। तो गोपियों की हत्या का पाप और कलंक श्रीकृष्ण के सिर पर गिरेगा। इस प्रकार गोपियों ने विचार किया कि इस दूसरी आशंका के भाव से ही संभवतः श्रीकृष्ण ने उन्हें बहकाने के लिए अथवा प्रेम-सन्देश से प्रसन्न करने के लिए सन्देश-वाहक उद्धव को भेजा था। यही सोचकर गोपियों ने श्रीकृष्ण को व्यंग्य से 'रमापति' कहा है।

(४)

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया॥

यहाँ आए हुए तुमको हम यदुपति-श्रीकृष्ण का पार्षद जानती हैं। हमारे भर्ता (पति) श्रीकृष्ण ने तुमको यहाँ अपने माता-पिता (यशोदा मैया तथा नन्द बाबा) के प्रिय करने की इच्छा से ही भेजा है।

(१) इस पद्य के निम्नलिखित दो पद बहुत महत्वपूर्ण हैं :

(क) **यदुपति** ! गोपियों ने प्रस्तुत पद्य में श्रीकृष्ण को यदुपति कहकर सम्बोन्धित किया है और उद्धव को यदुपति-श्रीकृष्ण की राजसभा का पार्षद। गोपियों का यहाँ यह तात्पर्य है कि अब श्रीकृष्ण गोपियों के पति नहीं हैं। अब तो वे यदुपति हैं। अब श्रीकृष्ण ने अपना गोपिकावल्लभ-श्रीकृष्ण का स्वभाव छोड़ दिया है। अतः अब श्रीकृष्ण को हमारी जैसी ग्राम्य गोपिकाओं की क्या परवाह है ? अब तो वे ऐश्वर्य-भाव में पूर्ण-रूप से निष्ठ हो चुके हैं। अब उनमें वह माधुर्य कहाँ है ? अब तो उनकी सेवा में बड़े-बड़े पराक्रमी यादव-योद्धा, राजनीति में कुशल सभासद पार्षद तथा बनावटी साज-शृंगार और हाव-भाव में निपुण नागरियाँ रहती हैं। अब उन्हें गोपियों की याद कैसे आवेगी ?

(ख) **पार्षद** ! उद्धव को यहाँ यदुपति-श्रीकृष्ण की राजसभा का पार्षद कहा गया है। किसी भी राजा का सभा-पार्षद अत्यन्त वाक्पटु तथा राजा के समान ही नीति-विद्या में कुशल होता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा राजसभा के कुशल पार्षद को सन्देहवाहक बनाकर भेजने का आशय गोपियों ने यह लगाया कि वह वाणी के जाल तथा मधुरता के मिठास में गोपियों को उलझाकर सान्त्वना देने के लिए भेजा गया है। 'यदुपति-पार्षद' कहकर गोपियाँ उद्धव को ध्वनि द्वारा यह भी जताना चाहती हैं कि हम तुम्हारे स्वामी के मनोभाव को अच्छी तरह जानती हैं और यह भी जानती हैं कि श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न तथा आनन्द से हैं। तुम्हारी तड़-कीली वेष-भूषा तथा वेशकीमती आभूषण इसके प्रमाण हैं।

(२) पद्य के निम्नलिखित दो आशय निकलते हैं :

(क) यदि यह कहा जाय कि तुम गोपियों ने ही श्रीकृष्ण के प्रति पतित्व का त्याग कर दिया है, क्योंकि तुम स्वयं ही उन्हें यदुपति-श्रीकृष्ण कह रही हो। यदि ऐसा नहीं होता तो तुम उन्हें 'हमारे पति' (अस्मत्पति) अथवा 'गोपिकापति' कहतीं। इस शंका की निवृत्ति के लिए पद्य के उत्तरार्ध में 'भर्तृ' पद का प्रयोग किया गया है। इससे गोपियाँ यह बताना चाहती हैं कि 'नहीं नहीं', हम तो श्रीकृष्ण को अपना भर्ता (पति) ही मानती हैं। हमारी तरफ से कोई गड़बड़ी नहीं है। श्रीकृष्ण ने ही अपने भर्तृत्व का त्याग करके यदु-पतित्व ग्रहण कर लिया है। यदुपति-श्रीकृष्ण तो बड़ी ऊँची जाति के हैं। उनको हमारे जैसी साधारण आभीर जाति की गोपियों का उनके प्रति पति-भाव कैसे और कब तक स्वीकार रह सकता है।

(ख) यदि यह कहें कि जब तुम अच्छी तरह जानती हो कि श्रीकृष्ण तुम सबसे बहुत प्रेम करते हैं। तुम्हारी कुशल-वार्ता जानने के लिए ही मुझ उद्धव को यहाँ भेजा है। फिर भी तुम श्रीकृष्ण को दोषी ठहराकर व्यंग्य-वचनों से उन्हें आड़े हाथों ले रही हो। क्या यह उचित है ? तो गोपियों का यहाँ यह कथन है कि हम इस प्रकार के बहलावे और भुलावे में आने वाली नहीं हैं। हम जानती हैं कि श्रीकृष्ण ने तुमको अपने माता-पिता (यशोदा तथा नन्द बाबा) की कुशलता का समाचार जानने के लिए ही भेजा है। क्योंकि यह एक साधारण सांसारिक नियम है कि माता-पिता को पुत्र के सुख तथा ऐश्वर्य का समाचार सुनने में बहुत हर्ष होता है। इसीलिए तुमको श्रीकृष्ण ने सुन्दर पीताम्बर तथा दिव्य सुवर्ण कुण्डल भेंट में दिये हैं, जिससे नन्द बाबा तथा यशोदा मैया यह समझें कि जब उनके पुत्र श्रीकृष्ण के अनुचर भी इतने ऐश्वर्य सम्पन्न हैं तो श्रीकृष्ण तो अवश्य ही अनन्त-गुण अधिक सम्पन्न होंगे। वस्तुतः श्रीकृष्ण को अपने

माता-पिता के सुख-दुःख की चिन्ता है। हमारे सुख-दुःख की नहीं। यदि श्रीकृष्ण हमारे बारे में चिन्तित होते, यदि श्रीकृष्ण हमारी कुशल-वार्ता जानने के इच्छुक होते, तो किसी साधारण दासी को सीधे हमारे पास भेजते। तुम्हारे जैसे कुशल, राज-काज में दक्ष, वाक्पटु तथा चतुर दूत को नहीं भेजते।

(५)

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः॥

अन्यथा (श्रीकृष्ण के माता-पिता को छोड़कर) इस गोकुल में उस श्रीकृष्ण के स्मरण करने योग्य अन्य किसी के विषय में हम नहीं कह सकती हैं। (माता-पिता आदि सम्बन्धी) बन्धुओं के स्नेह का बन्धन तत्ववेत्ता मुनि द्वारा भी अत्यन्त कठिनता से त्याग किया जाता है।

पिछले पद्य में गोपियों ने यह सन्देह उपस्थित किया था कि यदि श्रीकृष्ण उनसे प्रेम करते और अभी भी उन्हें अपने मन में रखते, तो उद्धव जैसे राजकार्य में कुशल पार्षद को दूत बनाकर भेजने की अपेक्षा किसी सीधी-साधी दूती को भेजते। इस पर उद्धव का कहना है कि दूती को भेजने से श्रीकृष्ण के माता-पिता का सन्तोष नहीं होता। दूत के आने से एक पन्थ दो काज सिद्ध हो जाते हैं। एक तरफ नन्द-यशोदा का परितोष होता है तो दूसरी तरफ गोपियों को सान्त्वना मिलती है। इतने पर भी वास्तव में गोपिकावल्लभ-श्रीकृष्ण ने गोपियों के परितोष के लिए ही मुझे यहाँ भेजा है। तुम गोपियों की अन्यथा-परिकल्पना निरर्थक है। इसी परिकल्पना का उत्तर प्रस्तुत पद्य में प्रस्तुत किया गया है।

इस पद्य में गोपियों की यह उपालम्भ-उक्ति है कि श्रीकृष्ण द्वारा यह दूत-प्रेषण केवल उनके माता-पिता के ही एकान्त परितोष के लिए है। श्रीकृष्ण तो अब यदुराज हैं। नन्दनन्दन गोपीजनवल्लभ गोपालकृष्ण नहीं हैं। अब उन्हें गोकुल की गौओं तथा गोप-गोपियों से क्या प्रयोजन है? हमारे जैसी साधारण कोटि की गोपियों के स्मरण का तो स्वप्न में भी प्रश्न नहीं उठता। यदि ऐसा नहीं होता और श्रीकृष्ण हम गोपियों का हाल-चाल जानने के लिए ही किसी दूत को भेजते, तो वह दूत सबसे पहले सीधा हमारे पास आता, हमारे पास ही ठहरता और हमें हमारे प्रियतम का प्रेम-सन्देश सुनाकर, हमारी विरह-व्यथा को शान्त कर फिर नन्द बाबा के पास जाता। किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। तुम उद्धव सबसे पहले नन्द बाबा के यहाँ गए और फिर यमुना-स्नान आदि नित्य कर्म में लग गए। हम ही ने स्वयं यहाँ आकर तुम्हारा नाम-धाम पूछने की अगुवाई की है। इसी बात को मन में रखकर गोपियों ने इस पद्य के उत्तरार्ध में यह कहा है कि प्रेम की गाँठ इतनी घुली रहती है कि जो आत्म-तत्ववेत्ता मुनि हैं, वे भी इस प्रेम की ग्रन्थि को नहीं छोड़ सकते। विशेष रूप से जब यह ग्रन्थि अपने खास सगे-सम्बन्धियों से जुड़ी रहती है, जैसे माता-पिता आदि।

स्नेह दो प्रकार का होता है : (१) निरुपाधिक स्नेह, (२) औपाधिक स्नेह। निरुपाधिक स्नेह में कोई उपाधि नहीं होती। अतः वह कभी नष्ट नहीं होता। औपाधिक स्नेह किसी न किसी उपाधि पर निर्भर रहता है। कारणभूत उपाधि के नाश से औपाधिक स्नेह भी नष्ट हो जाता है। जैसे किसी स्फटिक मणि की स्वच्छ निर्मल धवलिमा निरुपाधिक धवलिमा है जो स्फटिक मणि में हमेशा विद्यमान रहती है। उसी स्फटिक मणि को जब लाल रंग जपा कुसुम के पास रखते हैं तो उस स्फटिक मणि में लालिमा उत्पन्न हो जाती है, किन्तु उस लालिमा में स्थिरता का आदर्श नहीं रहता। जपा कुसुम हटाते ही स्फटिक मणि में दिखने वाली लालिमा नष्ट हो जाती है। अर्थात् औपाधिक भ्रम तब तक ही रहता है जब तक उपाधि रहती है। इसी प्रकार सहज निरुपाधिक स्नेह के बन्धन शरीर के साथ यावत् जुड़े रहते हैं। तत्ववेत्ता मुनि जनों के लिए भी जब तक उनका स्वयं अपना अथवा उनके माता-पिता आदि बन्धु-बान्धवों का शरीर विद्यमान रहता है, तब तक स्नेह-अनुबन्धन का त्याग अत्यन्त दुष्कर माना गया है। इस प्रकार यह वस्तु-स्थिति बनती है कि श्रीकृष्ण का स्नेह भी उनके माता-पिता के साथ जुड़ा हुआ है। जहाँ तक हम गोपियों की बात है, वहाँ तो श्रीकृष्ण का हमारे प्रति स्नेह निश्चित रूप से औपाधिक ही था। जब तक हमसे उनका कुछ स्वार्थ था तब तक वे स्नेह का प्रदर्शन करते रहे। किन्तु किसी प्रयोजन-उपाधि के अभाव में श्रीकृष्ण का हमारे प्रति स्नेह भी नष्ट हो चुका है। यही हमारी मान्यता है। यदि यह कहें कि एक नन्द बाबा के स्मरण करने से समस्त व्रज-वासी गोप-गोपिकाओं का स्मरण हो जाता है, जैसे एक हाथी के पैर के चिह्न में सभी अन्य पशुओं के पदचिह्न छिप जाते हैं अथवा जैसे एक ही अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म का विज्ञान हो जाने पर समस्त ब्रह्माण्ड का विज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो गोपियों का कहना है कि हमें तो श्रीकृष्ण का साक्षात् निरुपाधिक स्नेह ही प्रिय है। नन्द बाबा अथवा किसी की परम्परा के माध्यम से आगत स्नेह सम्बन्ध हमें स्वीकार नहीं है।

(६)

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्।
पुंभिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनःस्विव षट्पदैः ॥

दूसरे व्यक्तियों में किसी प्रयोजन या स्वार्थ से की गई मित्रता तभी तक स्थिर रहती है, जब तक उस प्रयोजन की विडम्बना विद्यमान रहती है। जैसे पुरुषों की स्त्रियों में की गई मित्रता। अथवा षट्पदों (मधुकरों) की पुष्पों में की गई मित्रता।

इस पद्य में गोपियों ने मित्रता-तत्त्व की व्याख्या की है। जब तक मित्रता किसी अन्य पदार्थ पर आश्रित रहती है, जैसे धन, या कोई अन्य स्वार्थ, तब तक वह मित्रता सच्ची मित्रता नहीं होती। ऐसी मित्रता तो उस धन का या स्वार्थ का अनुकरण करती रहती है। अथवा उस स्वार्थ पूर्ति के साधन की अनुकृति कहलाती है। धन के नाश से ही अथवा प्रयोजन सिद्ध होते ही उपाधि-कारण के अभाव में ऐसी

मित्रता भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार गोपियों का अभिप्राय है कि श्रीकृष्ण का उनके प्रति मित्रभावात्मक स्नेह का आधार भी कोई प्रयोजन ही था। अब प्रयोजन नहीं रहने पर वह स्नेह भी नष्ट हो चुका है।

मित्रता-तत्त्व के सिद्धान्त की साधनता में गोपियों ने दो दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं :

(क) पहला पुरुषों की स्त्रियों के प्रति मित्रता का दृष्टान्त है। सामान्य रूप से कामी पुरुष की कामिनी स्त्री में मित्रता के कारण का मूल आधार कामवासना की तृप्ति करना होता है। अतः ऐसी मित्रता कामवासना की पूर्ति तक ही स्थिर रहती है और वासनारूपी प्रयोजन की विडम्बना करती रहती है। वासना के पूर्ण होते ही अथवा नष्ट होते ही मित्रता का स्नेह-तन्तु टूट जाता है। वस्तुतः कामी पुरुष स्त्रियों से अपनी काम-वासनारूपी स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही मित्रता-स्नेह का आडम्बर करते रहते हैं।

(ख) दूसरा मधुकरों की पुष्पों के प्रति मित्रता का दृष्टान्त है। पहले दृष्टान्त पर यदि यह आक्षेप किया जाय कि स्त्री में कामवश प्रवृत्ति होने पर भी सन्तान उत्पन्न होने पर सन्तान के माध्यम से औपाधिक स्नेह भी सहज स्नेह में परिवर्तित हो जाता है तो यहाँ मधुकर का दूसरा दृष्टान्त दिया गया है। मधुकर पुष्पों से मित्रता करता है। पुष्पों पर मधुर झंकृति के नाद से उन्मत्त होकर मँडराता है। किन्तु वास्तव में मधुकर की पुष्पों के साथ मित्रता का आधार पुष्पों का मकरन्द होता है। पुष्प-मकरन्द के पान से तृप्त मधुकर उस पुष्प से निवृत्त हो जाता है। मधुकर के लिए यहाँ 'षट्पद' शब्द का प्रयोग भी साभिप्राय है। ६ चरण होने के कारण मकरन्द का पान करते ही मधुकर का शीघ्र पलायन यहाँ ध्वनित होता है।

(७–८)

निस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥

गणिकाएँ निर्धन पुरुष को, प्रजा असमर्थ राजा को, विद्या प्राप्त करके शिष्य आचार्य को, ऋत्विज दक्षिणा देने पर यजमान को, पक्षी फलहीन वृक्ष को, अतिथि भोजन करने पर (भोजन देने वाले) घर को, हरिण जले हुए जंगल को छोड़ देते हैं और जार अनुरागिणी स्त्री को भोग कर छोड़ देता है।

पिछले पद्य में गोपियों ने औपाधिक मित्रता के सन्दर्भ में पुरुष तथा मधुकर का दृष्टान्त दिया था। कोई यह आरोप न लगा दे कि गोपियों के मन में श्रीकृष्ण के के प्रति गहरी जलन उत्पन्न हो गई थी। श्रीकृष्ण पुरुष थे। इसीलिए गोपियों ने

ईर्ष्यावश दोनों दृष्टान्त पुरुषों के ही लिए हैं। 'वस्तुतः अर्थकृता औपाधिकी मैत्री के नियम का कहीं भी भंग नहीं होता।' यह सोचकर गोपियों ने प्रस्तुत प्रसंग में निम्नलिखित आठ दृष्टान्त उपस्थित किए हैं जो स्त्री तथा पुरुष दोनों से ही सम्बन्धित हैं।

(१) पहला दृष्टान्त गणिकाओं का है। गणिकाएँ किसी भी पुरुष के साथ गहरी मित्रता का ढोंग रचती हैं, किन्तु उनकी मित्रता सर्वथा औपाधिकी होती है। उनकी मित्रता में धन की उपाधि रहती है। इस धन-रूपी उपाधि के अभाव में उनकी मित्रता तत्क्षण नष्ट हो जाती है। जिस धनी पुरुष का वे बड़े प्रेम से सेवन करती हैं, जिसके आते ही समस्त अन्य सांसारिक व्यापार छोड़कर उसकी इच्छा के अनुसार नाचने लगती हैं, गाने लगती हैं तथा बजाने लगती हैं, उसी व्यक्ति के निर्धन होते ही उससे मुँह मोड़कर अपरिचित सी होकर एक क्षण में उसे छोड़ देती हैं। यह दृष्टान्त स्त्रियों की अर्थकृता औपाधिकी मित्रता को प्रमाणित करता है।

(२) दूसरा दृष्टान्त प्रजाओं का है। प्रजा अपना पालन करने में समर्थ राजा के साथ परम मैत्री करती है। उनकी यह मित्रता अर्थकृता औपाधिकी होती है। इसमें राजा की प्रजापालन-शक्ति ही उपाधि है। जब राजा की यह शक्ति क्षीण हो जाती है अर्थात् जब राजा अपनी प्रजा के पालन करने में असमर्थ हो जाता है, तब वही प्रजा उस परम्परागत राजा को छोड़ देती है और उसके शत्रु-राजा को मित्र के रूप में ग्रहण कर लेती है।

(३) तीसरा दृष्टान्त शिष्यों का है। शिष्यों की आचार्य के प्रति मित्रता भी औपाधिकी मित्रता होती है। इसमें विद्याप्राप्ति ही उपाधि रहती है। जब तक गुरुकुल में शिष्यों को विद्याप्राप्ति होती है, तब तक वे आचार्य का सेवन करते हैं। उपाधि के नष्ट होने पर, अर्थात् विद्याप्राप्ति के पश्चात् वे उस आचार्य को छोड़ देते हैं। यह सामान्य नियम है कि जहाँ-जहाँ उपाधि है वहाँ-वहाँ औपाधिक सम्बन्ध है। जो आचार्य परम उपकारी हैं, समस्त पुरुषार्थों के साधन की हेतुभूत विद्या के दाता हैं, उनको भी शिष्यगण छोड़ देते हैं।

(४) चौथा दृष्टान्त ऋत्विजों का है। ऋत्विजों की यजमान से मैत्री अर्थकृता होती है। इस मित्रता में अर्थ ही प्रयोजनभूत उपाधि रहती है। दक्षिणा प्राप्त होते ही ऋत्विज यजमान को छोड़ जाते हैं। अथवा यदि 'अदत्त-दक्षिणम्' पाठ मानें तो यह अर्थ होगा कि ऋत्विज उस यजमान के साथ ज्यादा मित्रता नहीं करते जो यजमान दक्षिणा नहीं देता।

(५) पाँचवाँ दृष्टान्त पक्षियों का है। भूखे पक्षी फलवान् वृक्ष का सेवन करते हैं। फलवान् वृक्ष के साथ पक्षियों की मित्रता का आधार फल-उपाधि रहती है। जब तक वृक्ष पर फलरूप उपाधि रहती है तब तक पक्षी वहाँ

मँडराते रहते हैं। किन्तु फलों के नहीं रहते ही उस वृक्ष को छोड़कर उड़ जाते हैं। इस दृष्टान्त द्वारा उन राहगीर यात्रियों का भी उपलक्षण से ग्रहण होता है जो ग्रीष्म ऋतु के प्रखर ताप से तप्त होकर किसी सघन छायावान् वृक्ष का आश्रय लेते हैं किन्तु छाया के नष्ट होते ही उस वृक्ष को छोड़ देते हैं।

(६) छठा दृष्टान्त अतिथियों का है। अतिथियों की मित्रता भोजनरूप उपाधि पर निर्भर रहती है। जैसे ही अतिथियों को उत्तम भोजन मिला, वे उसी भोजन देने वाले घर को छोड़ जाते हैं। जो अतिथि एक घण्टे पहले भूख से व्याकुल होकर बड़े प्रेम से किसी यजमान के यहाँ बैठते हैं, प्रेम तथा आदर से मीठी-मीठी बातें करते रहते हैं, वे ही भोजन करते ही उस घर को छोड़ जाते हैं।

(७) सातवाँ दृष्टान्त हरिणों का है। हरिणों की जंगल से मित्रता भी उपाधि-निष्ठ मित्रता है। जंगल का उपभोग ही इसमें उपाधि है। उपभोगभूत प्रयोजन-उपाधि के नष्ट होते ही हरिणों की जंगल के साथ मित्रता नष्ट हो जाती है। जिस जंगल में हरिण उत्पन्न होते हैं, जिसमें उठते-बैठते हैं, खेलते-कूदते हैं, आनन्द करते हैं, उसी जंगल को आग लगते ही छोड़ कर भाग जाते हैं।

(८) आठवाँ दृष्टान्त जार-पुरुष का है। जब कोई जार-पुरुष किसी कामिनी से मित्रता करता है, तो उस मित्रता में वासना की तृप्ति ही उपाधि रहती है। जब तक उस स्त्री का भोग उसे प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक ही उसकी मित्रता में तन्मयता रहती है। स्त्री का भोग प्राप्त होते ही उपाधि नष्ट हो जाती है और वह उस स्त्री को छोड़ जाता है। जो स्त्री प्रबल वासना से वशीभूत होकर अपने माता-पिता, पति-पुत्र, बन्धु-बन्धव, सगे-सम्बन्धी सब की उपेक्षा तथा अवहेलना कर देती है; सामाजिक कलंक की भी परवाह नहीं करके अभिसार करती है, उसी स्त्री को अतृप्त रहने पर भी वह जार-पुरुष केवल अपनी वासनातृप्ति होते ही छोड़ देता है। अथवा जो जार-पुरुष किसी स्त्री के घर के चारों तरफ चक्कर लगाता रहता है, जैसे तट पर रखे हुए अण्डों का झील में रहती हुई कछुवी दूर से ही रात-दिन चिन्तन करती रहती है, वैसे ही जार-पुरुष दूर रहकर भी परगृह में विद्यमान स्त्री का निरन्तर चिन्तन करता है, किन्तु उस स्त्री की प्राप्ति हो जाने पर उससे विरत हो जाता है।

इन आठ दृष्टान्तों में स्त्री, पुरुष, पशु तथा पक्षी सबका ग्रहण किया गया है। इसमें से पहले सात दृष्टान्त भ्रमरगीत में यह स्पष्ट करने के लिए बहुवचन में रखे गए हैं कि इनका सहचार-सम्बन्ध हमेशा नियत रहता है। यह भी प्रकट किया गया है कि निरुपाधिकी प्रीति बड़ी दुर्लभ है किन्तु औपाधिकी प्रीति सार्वत्रिकी है। स्त्री

हो या पुरुष हो, मूर्ख हो या पण्डित हो, पशु हो या पक्षी हो, सब में ये दृष्टान्त मिल जाते हैं। ऋत्विजों के दृष्टान्त से विद्वानों का भी संग्रह हो जाता है। केवल आठवाँ दृष्टान्त एकवचन में रखा गया है। गोपीपक्ष से यह साभिप्राय है। उनका तात्पर्य है कि हमारा भी एक ऐसा ही प्रिय मित्र है जो इन आठों दृष्टान्तों में मूर्धन्य दृष्टान्त का स्थान लेता है। वह मित्र कृतघ्न-शिरोमणि श्रीकृष्ण है, जो हमारे निरुपाधिक प्रेम करने पर भी अपनी तरफ से औपाधिक प्रेम ही जताता रहा। ऐसे मित्र से हम स्मृति-सन्देश की क्या आशा कर सकती हैं।

(६)

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः॥

इस प्रकार (बातचीत करती हुई) गोपियाँ गोविन्द-श्रीकृष्ण में वाणी, शरीर तथा मन से प्रवेश कर गईं। श्रीकृष्ण के दूत उद्धव के गोकुल आने पर उन गोपियों ने समस्त सांसारिक कार्यव्यापारों का त्याग कर दिया।

गोकुल में सब गोपियाँ श्रीकृष्ण के विरह में व्याकुल थीं। श्रीकृष्ण के चले जाने के कारण उनके मन कोप से भरे थे, किन्तु यह कोप ईर्ष्यामूलक नहीं था बल्कि प्रणयमूलक था। गोपियाँ तो अत्यन्त सरल स्वभाव वाली मुग्धा नायिकाएँ थीं। उनके मन में किसी भी प्रकार का छल-छिद्र तथा कपट नहीं था। किसी भी प्रकार के नकली व्यवहार की विडम्बना नहीं थी। श्रीकृष्ण के प्रति उनके उपालम्भ-वचनों में भी किसी प्रकार का मलिन भाव नहीं था। श्रीकृष्ण को उपालम्भ देते-देते ही वे सब गोपियाँ वाणी, शरीर तथा मन से श्रीकृष्ण में चली गईं। अर्थात् कोई गोपी वाणी से 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' नाम का कीर्तन करने लगी, कोई रोते-रोते मूर्छित हो गई और तन्मयता से श्रीकृष्ण के पास पहुँच गई, कोई मन से श्रीकृष्णमय हो गई। श्रीकृष्ण के प्रिय दूत उद्धव के वहाँ आते ही उन्होंने अपने-अपने समस्त गृहकार्य आदि लौकिक कार्यकलापों को छोड़ दिया और सबने उद्धव को घेरकर बातचीत करना शुरू कर दिया।

श्रीकृष्ण को यहाँ 'गोविन्द' कहा गया है। गोविन्द के दो अर्थ हैं।[1]

(१) गोविन्द वह है जो उपनिषद् वाक्यों को प्रमाण रूप में प्राप्त करता है।

(२) गोविन्द वह है जो गौओं का इन्द्र हो। श्रीकृष्ण ने सात वर्ष की अवस्था में सात दिन तक लगातार गोवर्धन पर्वत को धारण किया था और इस प्रकार गौओं के इन्द्र बनने के कारण गोविन्द कहलाए थे।

यही गोविन्द-श्रीकृष्ण यदि विरह-अग्नि में गोपियों को छोड़कर उनको सर्वथा भूल जायें तो गोविन्द की गोविन्दार्थता कैसे चरितार्थ होगी। ऐसे गोविन्द-श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की उपालम्भमयी वाचोयुक्ति सर्वथा औचित्य-संगत मानी जावेगी।

---

१ देखिए, डा. रसिकविहारी जोशी द्वारा रचित 'श्रीरासपञ्चाध्यायी-सांस्कृतिक अध्ययन' १९६१, दिल्ली, पृष्ठ ७२।

गोपियों का तो श्रीकृष्ण के प्रति अनिर्वचनीय निरुपाधिक प्रेम था। इसी प्रेम को गोपी-भाव तथा प्रेमा-भक्ति भी कहा जाता है। प्रेम की ऐसी एकतान तन्मयता का उदाहरण अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। जिन गोपियों की दशा केवल प्रियतम के सन्देश-वाहक दूत को देखकर ही अस्त-व्यस्त हो गई, उनकी दशा श्रीकृष्ण के साक्षात् आ जाने पर कैसी होगी, यह तो कल्पना करना ही कठिन है।

(१०)

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः॥

श्रीकृष्ण की किशोरावस्था तथा बाल्यावस्था के प्रिय (लीला-) कर्मों का स्मरण कर करके वे सब गोपियाँ मिलकर गाने लगीं, रोने लगीं और उन्होंने लज्जा का त्याग कर दिया।

इस पद्य में गोपियों की निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ संकेतित हैं :

(१) वाणी की अवस्था। वाणी से वे श्रीकृष्ण के नाम तथा गुणों का गान करने लगीं।

(२) शरीर की अवस्था। शरीर से वे रोते-रोते विह्वल हो गईं।

(३) मन की अवस्था। श्रीकृष्ण के लीला-चरित्रों का बार-बार स्मरण तथा गान करने से उनका मन श्रीकृष्ण में लीन हो गया। बार-बार स्मरण के द्वारा स्मृति की तैलधारानुगामिनी गति बताई गई है।

इस प्रकार मन, वचन तथा शरीर से गोपियाँ श्रीकृष्णमय हो गईं। उनको किसी प्रकार का देहानुसन्धान नहीं रहा। उन्होंने स्त्रियों के सहज लज्जा-धर्म को भी छोड़ दिया। भागवत परम्परा में निर्लज्ज होकर भगवान् के नाम का गान करना, नृत्य करना आदि भक्त के उत्तम चिह्न माने जाते हैं। साधक भक्तों के लिए यहाँ यह संकेत है कि उन्हें वाणी से नित्य श्रीकृष्ण के नाम तथा गुणों का कीर्तन करना चाहिए, शरीर से श्रीकृष्ण की नित्य पूजा करनी चाहिए और मन से श्रीकृष्ण का ही निरन्तर ध्यान करना चाहिए।

(११)

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत्॥

कोई गोपी श्रीकृष्ण के संगम के ध्यान में डूबी हुई थी। उसने एक मधुकर को देखा और उसको प्रिय श्रीकृष्ण द्वारा प्रेषित दूत के रूप में कल्पना करके यह कहना शुरू किया।

प्रस्तुत पद्य से २१वें पद्य तक श्रीकृष्ण की परम मानिनी अन्तरंग आह्लादिनी शक्ति श्रीप्रिया वृषभानुनन्दिनी राधारानी के उपालम्भ-उद्गारों का सिलसिला शुरू होता

है। गोपी समुदाय द्वारा अब तक दिए उपालम्भ-वचनों से राधारानी का परितोष नहीं हुआ। अतः अब उन्होंने श्रीकृष्ण को आड़े हाथों लेने की ठानी।

(१) इसी समय कहीं से एक मधुकर वहाँ आ गया था। वह मधुकर संभवतः श्रीप्रिया जी के दिव्य लोकोत्तर सुगन्ध से आकृष्ट होकर आया था। अथवा भगवान् द्वारा उद्धव की दी गई वनमाला के गन्ध से आकृष्ट होकर आया था। अथवा श्री प्रिया जी के चतुर चित्रजल्पों की मधुरता का पान करने आया था। अथवा भगवान् उद्धव को श्रीप्रिया जी की प्रेम-मधुरिमा तथा वाक्चातुरी दिखाने के लिए उस मधुकर को भेजा था।

(२) श्रीप्रिया जी इस समय श्रीकृष्ण के साथ संगम के ध्यान में तल्लीन थी। अथवा वे श्रीकृष्ण के साथ कृत पूर्वसंगम के चिन्तन-स्फुरण में तल्लीन थी। अथवा श्रीकृष्ण के साथ भविष्य में होने वाले संगम की भावचिन्ता में लल्लीन थी। इस तन्मयता में उन्होंने ध्यानावस्था में श्रीकृष्ण-संगम को प्राप्त कर लिया था। अथवा श्रीप्रिया जी इस विचार में लीन थी कि इस समय श्रीकृष्ण मधुपुरी की नागरी स्त्रियों के साथ संगम-परायण होंगे, कहीं मेरा अपरितोष नहीं हो जाय, इस दृष्टि से पहले से ही सन्देशवाहक दूत भेज दिया है। इस प्रकार की विविध कल्पना-प्रकल्पना करती हुई श्रीप्रिया जी ने मधुकर के साथ बातचीत करने के बहाने उद्धव को उपालम्भ देना प्रारम्भ किया। 'मधुप' के लिए यहाँ 'मधुकर' पद का साभिप्राय प्रयोग है। मधुकर पहले मधु बनाता है और जब स्वयं ही उस मधु को पीने लगता है तो मधुप कहलाता है।

(१२)

गोप्यवाच

मधुप ! कितवबन्धो ! मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥

गोपी बोली—

हे मधुप भ्रमर ! हे कितवबन्धु ! सपत्नी के स्तनों से मसली गई (श्रीकृष्ण की वन-) माला से सम्बन्धित कुंकुम से युक्त श्मश्रुओं से हमारे चरण का स्पर्श मत करो। यादवों की सभा में उपहास के योग्य, उन माननियों के प्रसाद को मधुपति-श्रीकृष्ण ही धारण करें, जिनके तुम इस प्रकार के दूत हो।

गोपियों के समुदाय द्वारा दिए गए उपालम्भ से वृषभानु-नन्दिनी भगवती श्रीराधारानी का सन्तोष नहीं हुआ। राधारानी परम मानिनी हैं। श्रीकृष्ण की साक्षात् आह्लादिनी शक्ति हैं। उन्होंने उद्धव के साथ सीधी बातचीत नहीं की, बल्कि संयोग से आए हुए भ्रमर के साथ बात करते-करते उद्धव को वक्रोक्ति द्वारा अपना उपालम्भ

सुनाया। इसीलिए यह 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्रीराधारानी का यह उपालम्भ प्रस्तुत १२वें श्लोक से २१वें श्लोक तक दश श्लोकों में वर्णित है। ये श्लोक बहुत कठिन हैं। इनके भ्रमरपक्ष, उद्धवपक्ष तथा श्रुतिपक्ष में तीन-तीन अर्थ होते हैं।

(१) **भ्रमरपक्ष**। इस पक्ष में निम्नलिखित दो सम्बोधनों का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए :

(क) (i) **मधुप** ! मधुप का एक अर्थ मधु (पुष्परस) पीने वाला भँवरा है। इस सम्बोधन से श्रीराधारानी का आशय है कि तुम हमारे चरण का स्पर्श मत करो क्योंकि तुम मधु पीने वाले हो। हमारे चरण कमल का मकरन्द-मधु भी पी जाओगे, तो हमारे चरणकमल रसहीन हो जावेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि मधुपुरी की नागरियों के साथ रमण-परायण श्रीकृष्ण ने हमारे वहाँ आ जाने के भय से तुमको हमारे चरण-कमल का रस पीने की दृष्टि से ही भेजा है। हमारा चरण स्पर्श करने की दृष्टि से नहीं। तुम्हारी मन की कलुषता हम जान गई हैं। अतःतुम जाकर श्रीकृष्ण को कह देना कि वे वहाँ इच्छानुसार रमण करते रहें। अब हम वहाँ कभी नहीं आवेंगी।

(ii) मधुप का दूसरा अर्थ मधु अर्थात् मधु पीने वाला भी है। इस अर्थ में यह भाव निकलता है कि तुम मद्यपान करने वाले हो। तुम्हारा स्पर्श अपवित्रता को उत्पन्न करने वाला है। तुम्हें हमारे चरण-स्पर्श का अधिकार नहीं है। हाँ, यदि तुम्हारे मन में हमारे प्रति रागानुगा भक्ति का उद्रेक हो तो तुम हमें दूर से प्रणाम कर सकते हो। यदि यह कहा जाय कि मुझे तो आपके पास आपके प्रियतम श्रीकृष्ण ने भेजा है। मैं तो श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए ही आपका चरण-स्पर्श करना चाहता हूँ। आप वृथा ही मुझमें पापात्मा की शंका कर रही हैं तो दूसरा सम्बोधन 'कितवबन्धु' दिया गया है।

(ख) **कितवबन्धु** ! इसका अर्थ है कि तुम कितव अर्थात् धूर्त (श्रीकृष्ण) के बन्धु हो। श्रीकृष्ण ने हमें रासलीला के प्रसंग में कहा था कि "तुम्हारे मेरे प्रति किए गए स्नेह का प्रतीकार तो मैं देवताओं के समान आयु पाकर भी नहीं कर सकता।" (श्रीमद्भागवत १०, ३२, २२)। यह कहकर भी श्रीकृष्ण हमें छोड़कर चले गए। वे वंचक हैं। अब श्रीकृष्ण मधुपति (यादवपति) हैं और तुम मधुप हो। मधुपति तथा मधुप में वर्ण-समता है। नाम की एकता है। वंचकत्वरूप धर्म की तुल्यता है। मधुपति-श्रीकृष्ण और मधुप-कितव में मित्रभाव होने से तुम उसी के तुल्य हो। हम तुम पर किसी प्रकार का मिथ्या आरोप नहीं लगाती हैं। बल्कि सीधी-सच्ची बात कहती हैं कि तुम केवल मद्यपान करने वाले मधुप ही

नहीं हो बल्कि उस धूर्त श्रीकृष्ण के बन्धु भी हो। अतः हमारे जैसी परम पवित्र व्रजांगनाओं के चरण-स्पर्श का अधिकार तुम्हें नहीं है।

चरण-स्पर्श के निषेध द्वारा यह ध्वनि निकलती है कि यदि श्रीकृष्ण स्वयं आकर भी हमारे चरणों में गिरकर क्षमा याचना करें, तब भी हमारा दुःख दूर नहीं हो सकता। फिर तुम्हारे जैसे दूत द्वारा चरणस्पर्श के माध्यम से हमारे दुःख के दूर होने की तो लेशमात्र भी संभावना नहीं है। अतः तुम्हारा चरणस्पर्श करने का प्रयास सर्वथा निष्फल कर्म है। यदि यह कहें कि अच्छा मैं दूर से ही श्मश्रु द्वारा चरणस्पर्श कर लूंगा। इससे स्वामी श्रीकृष्ण की आज्ञा पूरी हो जावेगी और मुझे आज्ञा-उल्लंघन का दोष नहीं लगेगा। तो राधारानी का कहना है श्मश्रु से चरणस्पर्श करना तो हमें और भी अनभीप्सित है। जिस नागरी के साथ श्रीकृष्ण आजकल मधुपुरी में रमण कर रहे हैं, उसके स्तनों से श्रीकृष्ण की वनमाला मसली हुई है और वनमाला पर उस नागरी के स्तनों का कुंकुम लगा हुआ है। वही कुंकुम तुम्हारी श्मश्रु में अंकित है। ऐसी श्मश्रु के स्पर्श द्वारा तुम हमें पैर से सिर तक जला देना चाहते हो। तुम्हारा मद्यपायी होना भी इससे पुष्ट होता है कि इस प्रकार की श्मश्रु से हमारे क्रोध को भड़काना चाहते हो। तुम विवेकशून्य हो। यदि तुम्हारे स्वामी श्रीकृष्ण भी साधु होते तो वहाँ की नागरियों से उदासीन रहते। किन्तु वे तो वहाँ इतने रम गए हैं। इतने भ्रान्त हो गए हैं कि तुम्हारे जैसे मद्यपायी को यहाँ दूत बनाकर भेज दिया। इतना भी नहीं बताया कि श्मश्रु का कुंकुम धोकर जाना। श्रीकृष्ण मधुपति अर्थात् यादव-पति हैं। मधुप हैं। यादव प्रायः मद्यप हैं। अतः श्रीकृष्ण भी मद्यप हैं क्योंकि यादवों के लिए मद्य का पालन करते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि रसशास्त्र के अनुसार विप्रलम्भ शृंगार में दूत तथा नायक दोनों पर ही दोष डालना विप्रलम्भ शृंगार रस का पोषक गुण माना जाता है।

श्लोक के पूर्वार्ध में 'सपत्नी' पद एकवचन में रखा गया है और राधारानी के लिए 'नः' इस बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इससे सपत्नी की अपेक्षा राधा-रानी की परम उत्कृष्टता ध्वनित होती है। यदि यह कहें कि अच्छा ठीक है, मैं मथुरा लौट जाता हूँ। श्रीकृष्ण स्वयं आकर तुम्हें मनाकर प्रसन्न कर लेंगे। तो राधारानी का कहना है कि मधुपति श्रीकृष्ण मधु अर्थात् यादवों के अथवा मधुदेश के पति हैं। वे अब वहीं मानिनी नागरियों को प्रसन्न करते रहें। अब श्रीकृष्ण का यही अधिकार बचा है। यहाँ 'मानिनी' पद बहुवचन में रखा गया है। अर्थात् वे मधुपुरी की नाग-रियाँ बहुत हैं। श्रीकृष्ण अकेले हैं। उन नागरियों को प्रसन्न करते-करते ही श्रीकृष्ण की आयु पूर्ण हो जावेगी। अथवा इतनी नागरियों को प्रसन्न करने में व्यस्त श्रीकृष्ण को हमारे जैसी साधारण गोपियों के पास आने का समय ही नहीं मिलेगा।

(२) उद्धवपक्ष। इस पक्ष में उद्धव को मधुप अर्थात् मधुपति कहा गया है। यहाँ यह अभिसन्धि समझनी चाहिए कि तुम तो रात-दिन भगवान् श्रीकृष्ण के ध्यान में लग्न रहते हो। अतः श्रीकृष्ण की प्रिया को देखकर उसके

चरण-कमल का दर्शन तथा स्पर्शन करने के लिए झुकना तुम्हारी भाव-भक्ति के अनुरूप है। तुम शायद चरणों की पूजा करना चाहते हो। किन्तु तुम्हारी इस झुकने की प्रक्रिया से तुम्हारी श्मश्रु में लगे हुए कुंकुम के कारण हमें स्पष्ट समझ में आ गए हो। अतः तुम्हें चरण-स्पर्श का अधिकार नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक से आरम्भ करके २१वें श्लोक तक के दस श्लोकों में साहित्य-शास्त्र में वर्णित चित्रजल्पों का वर्णन प्राप्त होता है। ये चित्रजल्प संख्या में दस हैं। (१) प्रजल्प। (२) परिजल्प। (३) विजल्प। (४) उज्जल्प। (५) संजल्प। (६) अभिजल्प। (७) उपजल्प। (८) आजल्प। (९) प्रतिजल्प। (१०) सुजल्प। प्रस्तुत पद्य में 'प्रजल्प' का सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है। असूया, ईर्ष्या, मद तथा अवधीरणा की मुद्रा से प्रिय के प्रति अकुशल उद्गार को 'प्रजल्प कहते हैं।

'असूयेर्ष्यामदयुजा योऽवधीरणमुद्रया।
प्रियस्याकौशलोद्गारः प्रजल्पः स तु कीर्तितः॥

पद्य में श्रीकृष्ण को कितव कहकर असूया प्रकट की गई है। असूया का अर्थ है गुणों में दोषों का आविष्कार करना। सपत्नी पद से ईर्ष्या प्रकट की गई है। 'अंघ्रि मा स्पृश' (पैर मत छूओ) से मद अभिव्यक्त हुआ है और 'यदुसदसि' (यादवों की सभा में) से अकुशल उद्गार प्रकट किया गया है।

(३) **श्रुतिपक्ष**। पौराणिक परम्परा के अनुसार वेदों की श्रुतियाँ व्रजमण्डल में गोपीरूप से अवतरित हुई थीं।[1] एक गोपी ने, जो 'तत्त्वमसि' के रूप से मुख्य श्रुति थी, मधुप को मधुकर समझा। यह मधुकर उपनिषदों की गुप्त मधुविद्या का ज्ञाता था। अपने कर्म से मधु के सदृश कर्म का कर्ता था। यही जीवात्मा था। अर्थात् इस गोपी ने मधुप को जीवात्मा के रूप से समझा। उसका हृदय करुणा से लबालब भर गया। वह मधुप-जीवात्मा के परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ संगम का ध्यान करने लगी। श्रीकृष्ण को ही वह सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म मानती थी। इस आशय से वह प्रिय श्रीकृष्ण के स्वस्थ आनन्द में डूब गई और श्रीकृष्ण द्वारा प्रेषित दूत की परिकल्पना से कहने लगी।

हे मधुप! हे जीवात्मा! तुम मधुप के समान सांसारिक विषय-वासना के मधु के रसपान में डूब गए हो। यद्यपि तुम न तो कर्ता हो, और न भोक्ता हो। तुम तो वास्तव में सच्चिदानन्दघन हो। फिर भी जिस कारण से तुम अनर्थ की परम्परा में फँसे हुए हो और 'तत्त्व' को नहीं समझ रहे हो, उसका कारण मैं तुम्हें समझाती हूँ। तुम 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य को भूल गए हो। तुम कितव (धूर्त) के बन्धु हो।

---

१ देखिए, डॉ. रसिकविहारी जोशी, 'श्रीरासपंचाध्यायी सांस्कृतिक अध्ययन', १९६१, दिल्ली, पृष्ठ ३२।

क्योंकि परब्रह्म श्रीकृष्ण ने तुमको सांसारिक विषय-वासना सुख के कुछ मधु-कण चखा दिए हैं और संसार के जन्म-मरण के चक्कर में उलझा दिया है। किन्तु वास्तव में यह सुख सुख नहीं है, सुख का आभासमात्र है। श्रीकृष्ण की गुणमाया तथा जीव-माया के तादात्म्य के कारण ही तुम्हारे में संसार की प्रतीति है, स्वतः वस्तुतः नहीं। यदि यह पूछा जाय कि संसार को उत्पन्न करने वाले अन्तःकरण के तादात्म्य-अध्यास का कारण क्या है ? अपनी निज स्वरूप प्राप्ति कैसे हो सकती है ? तो इसका उत्तर है कि वास्तव में तुम त्रिगुणात्मिका माया के पति हो। साक्षात् परमात्मा हो। माया तुम्हारी अपनी पत्नी है। तुमने उसका चरण-स्पर्श कर लिया है। स्त्री का चरण-स्पर्श करने वाला व्यक्ति उसके आधीन हो जाता है। जिसको स्त्री जीत लेती है वह उस स्त्री का दास बन जाता है। अपनी स्वामिता भूल जाता है। तुम्हारी भी यही दशा है। इसीलिए तुममें अन्तःकरण का अध्यास है। यदि अब भी तुम्हारे में मोक्ष की इच्छा बलवती है तो फिर कभी स्त्री के चरण-स्पर्श मत करना। स्त्री-पुरुष के देह-तादाम्य के अध्यास को तुमने स्त्री के चरण-स्पर्श करके ही प्राप्त किया है। स्तनों द्वारा माला तथा कुंकुम से तुम उपलक्षित हो। इन सबसे अत्यन्त विलक्षण होने पर भी तुम स्वयं को इनके संघात रूप में समझ बैठे हो। यदि यह पूछें कि इस संघात की अधीनता कैसे दूर हो, तो यह उत्तर है कि वह मधुपति तुम ही हो। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि मानिनी श्रुतियाँ यही प्रतिपादन करती हैं कि प्रत्यगात्मा से अभिन्न परब्रह्म ही तात्त्विक है। वेदान्त वाक्यों के समन्वय-प्रसाद को तुम सादर धारण कर लो। यह सत्य है कि तुम अल्पज्ञ जीव हो। श्रीकृष्ण ही सर्वज्ञ है। तथापि औपाधिक सम्बन्ध हटते ही तुम ही सच्चिदानन्द स्वरूप हो। तुम ही परब्रह्म श्रीकृष्ण-स्वरूप हो। तुम्हारा जीवभाव से संसार में रहना केवल विडम्बना है। अतः स्वात्म-बोध के लिए तुम श्रुतियों के तात्पर्य का निश्चय करो।

(१३)

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरित कथं तत्पादपद्मं हि पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता ह्युत्तमश्लोकजल्पैः॥

अपनी मोह लेने वाली अधर-सुधा को एक बार पिलाकर तुम्हारे जैसे उस (श्रीकृष्ण) ने पुष्पों की तरह हमारा त्याग कर दिया था। उसके चरण कमल की टहल पद्मा-लक्ष्मी कैसे करती है ? अथवा खेद की बात है कि संभवतः पद्मा-लक्ष्मी का चित्त उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण के (वाक्) जल्पों अर्थात् निरर्थक सान्त्वना-वचनों से हरण कर लिया गया है।

यहाँ दूत के पक्ष से यह तर्क उठाया गया है कि किसी अन्य नागरी के साथ मेरे प्रिय व्रजराज-किशोर मथुरा में रमण करते हैं, यह आशंका निर्मूल है। इस

आशंका में क्या प्रमाण है ? प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीनों प्रमाणों से ही व्रज-राजकिशोर का अन्य नागरी के साथ रमण करना सिद्ध नहीं होता। यदि कहें कि यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, तो यह कथन असंगत है क्योंकि प्रत्यक्ष का आधार इन्द्रिय के दृश्य पदार्थ का संयोग होता है। आपने कभी भी व्रजराजकिशोर श्रीकृष्ण को अपनी आँखों से अन्य रमणी के साथ रमण करते नहीं देखा है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध करना अयोग्य है। यदि कहें कि अनुमान प्रमाण से सिद्ध करेंगे तो यह असम्भव है। जैसे मिट्टी के उड़ते हुए ढेर में दूर से धुएँ का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार श्मश्रु के स्वाभाविक लाल रंग में अन्य नागरी के स्तन-कुंकुम का भ्रम है। भ्रमज्ञान से हेत्वाभास हो जाता है। निरुपाधिक हेतु के अभाव में अनुमान से भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहें कि शब्द प्रमाण से सिद्ध हो जावेगा तो शब्द प्रमाण तो यथार्थ वक्ता आप्त पुरुष का वचन हो ता है। अयथार्थवादी अनाप्त पुरुष का वचन अप्रामाणिक होता है। इस प्रकार तीनों प्रमाणों से जब आपका आरोप सिद्ध नहीं होता तो यही मानना युक्तिसंगत है कि व्रजराजकिशोर-श्रीकृष्ण नित्य आपका ही ध्यान करते रहते हैं। स्वप्न में भी अन्य नागरी के साथ समागम का विचार भी मन में नहीं लाते। मैं तो इस प्रकार के परम प्रिय व्रजराजकिशोर में भक्तिमती श्रीप्रिया जी के चरणकमल के दर्शन तथा स्पर्शन करने के लिए व्रजराजकिशोर की आज्ञा से आया हूँ। मुझमें भी दोषारोपण करना न्यायसंगत नहीं है। इस तर्क को मध्येनजर रखकर प्रस्तुत पद्य में इसका उत्तर दिया गया है।

(१) भ्रमरपक्ष। इस पक्ष में श्रीप्रिया जी का कथन है कि श्रीकृष्ण ने एक बार अपनी अधरसुधा पिलाकर हमारा त्याग कर दिया है। यह एक साधारण लोक नियम है कि उत्कृष्ट वस्तु के लाभ का पूर्ण निश्चय हुए बिना कोई मन्दमति पूर्वप्राप्त वस्तु का त्याग नहीं करता। हमारा त्याग यह प्रमाणित करता है कि श्रीकृष्ण को हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ नागरियों के रमण-साहचर्य का पहले ही निश्चय था। हमारे त्याग की अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकती। अतः अर्थापत्ति प्रमाण से हमारी शंका पक्की हो जाती है। यदि कहें कि श्रीकृष्ण तो तुम्हें सुधा पिलाकर गए हैं। जो पिलाकर जाता है, वह उपालम्भ तथा निन्दा का विषय नहीं बनता, बल्कि पीने वालों की प्रशंसा तथा कृतज्ञता का पात्र होता है। तो इसका उत्तर है कि श्रीकृष्ण का सुधा पिलाकर चले जाना हमारे उपकार के लिए नहीं था। अन्यथा श्रीकृष्ण हमें उस सुधा को बार-बार पिलाते, हमारा त्याग नहीं करते। इस प्रकार अकृतज्ञता का दोष हम पर नहीं लग सकता। वास्तव में श्रीकृष्ण का हमें एक बार सुधा पिलाकर चले जाना, गीले गोबर से जलाने के समान है जो अत्यन्त कष्टदायी होता है। इसकी अपेक्षा यदि श्रीकृष्ण एक बार भी उस सुधा को नहीं पिलाते तो हम सूखी लकड़ी से जलाने के समान जलतीं, जो इतना कष्टदायी नहीं होता। इस पर यदि यह कहा जाय कि इसके लिए इतने संताप की क्या आवश्यकता है। मैं जाकर श्रीकृष्ण को यह सब बता दूंगा और वे यह सब सुनते ही उस 'सुधा' को एक सुन्दर सोने की झारी में भरकर तुम्हारे

पास भेज देंगे। उसे पी-पीकर तुम तृप्त हो जाओगी। तो इसका उत्तर यहाँ 'स्वाम्' शब्द से दिया गया है। अर्थात् वह 'सुधा' श्रीकृष्ण के अपने अधर की सुधा है। श्रीकृष्ण के स्वयं दिए बिना और श्रीकृष्ण के अधररूपी पात्र के बिना उसका पान असंभव है। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार की दुर्लभ वस्तु की कामना ही छोड़ दें तो मन स्वस्थ हो जावेगा, तो 'मोहिनी' पद रखा गया है। 'मोहिनी' का अर्थ मोह उत्पन्न करने वाली है। मोह से विवेक नष्ट हो जाता है और एक ऐसी लालसा पनपती है जिसका कभी अन्त नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि तुम सब गोपियों में ही किसी दोष को देखकर श्रीकृष्ण ने तुम्हारा त्याग किया होगा तो 'सुमनसः' (पुष्प) पद रखा गया है। पुष्पों के समान हम व्रजांगनाएँ हैं। तुम भ्रमर हो, तुम्हारे समान श्रीकृष्ण हैं। जैसे भ्रमर पुष्पों का रस पीकर उड़ जाता है तो वहाँ भ्रमर द्वारा किए गए त्याग का दोष पुष्पों पर नहीं आता। उसी प्रकार हम भी सुमनस अर्थात् साधु चित्त वाली हैं। श्रीकृष्ण द्वारा किए गए हमारे त्याग का दोष हम पर नहीं आ सकता। हम तो अपनी जगह पर ही स्थित हैं। जैसे चमेली के पुष्प चमेली की लता पर स्थित रहते हैं। श्रीकृष्ण ही चंचल भ्रमर के तुल्य है। यह हमारी केवल कल्पना नहीं है। साधारण भ्रमर तथा श्रीकृष्ण-भ्रमर में यही अन्तर है कि साधारण भ्रमर तो पुष्पों का रस पीकर उड़ जाता है और श्रीकृष्ण-भ्रमर रस पिलाकर उड़ गया है। एक तरफ हमारा चित्त श्रीकृष्ण में आसक्त है और दूसरी तरफ विवेक नष्ट हो जाने से परलोक की साधन प्रणाली के साधन में असमर्थ है। अतः हमारा उपालम्भ सर्वथा उचित है। यदि यह कहा जाय कि यदि श्रीकृष्ण वास्तव में ही कितव अर्थात् वंचक हैं तो परम-चतुरा भगवती श्रीमहालक्ष्मी 'पद्मा' कैसे श्रीकृष्ण के चरण कमल की निरन्तर सेवा करती रहती है। इसके निम्नलिखित तीन समाधान संभव हैं :

(क) 'पद्मा' शब्द का यदि यह अर्थ करें 'जो चरण में समा जाय' (पदि चरणे माति), तो पद्मा श्रीमहालक्ष्मी श्रीकृष्ण से अभिन्न सिद्ध हो जाती है।

(ख) अथवा संभवतः (अपि) पद्मा-लक्ष्मी का चित्त उत्तम कीर्ति वाले उत्तम श्लोक श्रीकृष्ण के जल्पों (निरर्थक वचनविन्यासों) से हरण किया जा चुका है। अतः श्रीकृष्ण के वचनों की अनर्थता को नहीं जानती हुई ही पद्मा-लक्ष्मी श्रीकृष्ण की पाद-सेवा में लगी रहती है। हम तो श्रीकृष्ण के वचनों की अनर्थकता से अच्छी तरह परिचित हैं।

(ग) अथवा पद्मा-लक्ष्मी को श्रीकृष्ण की सेवा की वह विधि मालूम है जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर उसकी प्रेम-रज्जु में बँध गए हैं। हमें वह विधि अज्ञात है।

इस पद्य में 'परिजल्प' का वर्णन किया गया है। परिजल्प उसे कहते हैं जिस वाग्विन्यास में शठता, निर्दयता, चंचलता तथा अकृतज्ञता भरी हो और अपनी स्वयं की विलक्षणता व्यक्त की जाय। जैसा कि 'अधर सुधा स्वयं पिलाकर हमारा त्याग कर गए'। इस वचन से प्रकट होता है।

'प्रभोर्निर्दयता शाठ्यचापल्याद्युपपादनात् ।
स्वविलक्षणता व्यक्तिभङ्ग्यं स्यात् परिजल्पनम् ॥'

(२) **उद्धवपक्ष** । इस पक्ष में 'अधरसुधाम्' पद का विच्छेद इस प्रकार समझना चाहिए । यहाँ हे अधर ! यह सम्बोधन है। अर्थात् हे अ (अकार) को (वासुदेव-श्रीकृष्ण को) धारण करने वाले उद्धव ! 'अकारो वासुदेवः स्यात्' इस एकाक्षर कोष के प्रमाण से 'अ' का अर्थ वासुदेव प्रसिद्ध है । जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने पहले देवताओं (सुमनसः) को सुधा पिलाकर अपने मोहिनी रूप का त्याग कर दिया था । उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अपनी सुधा पिलाकर हमारा त्याग किया है ।

(३) **श्रुतिपक्ष** । इस पक्ष में जीवात्मा के प्रति यह भाव प्रकट होता है कि हे जीवात्मा ! माया के चरण का स्पर्श करने से ही तुम संसारी हो गए हो । माया के चरण के स्पर्श के अभाव के कारण ही ईश्वर संसारी नहीं है। इसलिए तुम अधर हो । अर्थात् इसी कारण तुम्हारे में अनीश्वरभाव की भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है । अतः तुम निकृष्ट हो । अनीश्वरभाव के कारण ही जीवात्मा शोक तथा मोह में फँसता है। ईश्वर समस्त जीवों का मोहन करने वाली 'मोहिनी माया' रूपिणी सुधा को पिलाकर अपनी मोहिनी-माया का त्याग कर देता है । यहाँ 'सुधा' शब्द से सत्ता की स्फूर्ति अर्थ का ग्रहण करना चाहिए । श्रुतिपक्ष में 'पाययित्वा सुमनसः' का पदच्छेद इस प्रकार समझना चाहिए । (क) पाययित्वा । (ख) असुम । (ग) न सः । यहाँ असुम पद सम्बोधन का एक वचन है । असुम की व्युत्पत्ति है 'असुभिः मा प्रमा यस्य सः असुमः' । अर्थात् जिसकी प्रमा (ज्ञान) इन्द्रियों तथा प्राणों द्वारा तत्तद् विषयों में यथार्थ है । उसने तुम्हारा त्याग नहीं किया है क्योंकि वह तो सर्वज्ञ है । सबको जानता है । सबका वशीकार करता है । सबका स्वामी है । किन्तु तुम ही देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि तथा मन में आत्मबुद्धि का अहंकार करके हम श्रुतियों द्वारा प्रतिपाद्य निजस्वरूप को भूल गए हो । यदि जीवात्मा यह कहे कि मैं तो अनीश्वर हूँ । अतः ईश्वर से नितान्त भिन्न हूँ । इसलिए उपालम्भ का विषय नहीं बन सकता । तो ईश्वर के लिए प्रस्तुत श्लोक में 'भवादृक्' पद दिया गया है । अर्थात् ईश्वर तुम्हारे समान ही है । तुम्हारा सखा है। तुम्हारे से अत्यन्त भिन्न या विलक्षण नहीं है । यदि यह कहा जाय कि यदि ईश्वर ने माया का त्याग कर दिया है तो फिर वही माया लक्ष्मी के रूप से ईश्वर के पादपद्म की सेवा कैसे करती है । इसका उत्तर है कि लक्ष्मी श्रीकृष्ण की कीर्ति के कीर्तन से वशीभूत होकर स्वयं ही श्रीकृष्ण की सेवा करती रहती है । श्रीकृष्ण अपने पक्ष से केवल साक्षी, निर्लिप्त तथा उदासीन ही रहते हैं ।

(१४)

किमिति बहु षडङ्घ्रे ! गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥

हे षडंघ्रि भ्रमर ! तुम यह पुराने यदुओं के अधिपति का हम अगृहिणियों के सामने क्या बहुत गान कर रहे हो। विजय (श्रीकृष्ण) जैसे (तुम्हारे) सखा की सखियों और उनके प्रसंगों का गान करो। वे ही सम्मानित होकर तुम्हारे अभीष्ट की कल्पना उपस्थित करेंगी, क्योंकि उनके स्तनों की पीड़ा नष्ट हो चुकी है।

इस प्रकार अनेक बार मना करने पर भी जब वह भ्रमर राधारानी के चरण स्पर्श करने के लिए प्रवृत्त होने लगा, तो उन्होंने क्रोध से उसे दूर छिटक दिया। किन्तु वह तो फिर भी उनके पास ही मँडराता हुआ मधुर झंकृति-गुंजार करता रहा। उस गुंजार को गोपियों की प्रसन्नता के लिए 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' नाम का गान मानकर प्रस्तुत पद्य में उत्तर दिया गया है।

(१) भ्रमरपक्ष। हे भ्रमर ! तुम क्यों वृथा गा रहे हो ? यहाँ तो सारा व्रज ही दुःख से पीड़ित है। ऐसे समय में तो गाने के स्थान पर रोना अधिक उचित है। यदि तुम व्रजांगनाओं का दुःख दूर करने की दृष्टि से गाते तो कुछ उचित भी था। किन्तु तुम तो यदुपति-श्रीकृष्ण का गान करके हमारे घावों पर नमक छिड़क रहे हो। अन्यथा गोपिकावल्लभ श्रीकृष्ण का गान करते। यदि तुम्हें यदुपति-श्रीकृष्ण का ही गान करना है तो मधुपुरी की यदु-नागरियों के पास जाकर गाओ।

यहाँ भ्रमर के लिए षडंघ्रि पद का प्रयोग साभिप्राय किया गया है। षडंघ्रि का अर्थ है ६ पैर वाला भंवरा। इससे यह ध्वनि निकलती है कि चार पैर वाला जीव पशु कहलाता है। पशु में विवेक नहीं होता। तुम तो ६ पैर वाले हो। अतः डेढे पशु हो। तुमको तो यह भी ज्ञान नहीं है कि कहाँ किस स्थान में क्या गाना चाहिए। यदि कहा जाय कि मेरी तो गाने की प्रकृति ही है। मैं यहाँ से अन्यत्र जाने में असमर्थ हूँ। तो षडंघ्रि पद से यह बताया गया है कि दो पैर वाला जीव भी बहुत दूर जा सकता है, तुम तो ६ पैर वाले हो। यदि यह कहा जाय कि मैं तो व्रज में श्रीकृष्ण के प्रेम में प्रमुदित होकर गा रहा हूँ, तो यहाँ 'पुराणम्' शब्द से यह बताया गया है कि श्री कृष्ण हमारे लिए नवीन नहीं हैं। हम व्रज की प्रेम की रीति को अच्छी तरह जानती हैं और यह भी जानती हैं कि श्रीकृष्ण की प्रेम की रीति कपटमयी है। इस पर भी यदि व्रज में गाने की ही दृढ़वादिता है तो ऐसी जगह जाकर गाओ जहाँ तुम्हारी गाने की ध्वनि हमारे कानों तक नहीं पहुँचे। हमारे सामने गाने से तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि हमें तो तुम्हारे श्रीकृष्ण ने घरों से छुड़ाकर अगृहिणी बना दिया है। हम अब गृहिणी नहीं हैं। यदि तुम किसी लाभ के लोभ से गा रहे हो, तो हमारे द्वारा तुम्हारी इच्छा की पूर्ति नहीं होगी। हम तो स्वयं ही श्रीकृष्ण के विरह में घर-बार छोड़कर रास्ते में पड़ी हैं। तुम्हें गाने के बदले में कुछ भी देने में समर्थ नहीं हैं। यदि हमारे लिए गाना चाहते हो तो वह भी वृथा है। क्योंकि हमने तो श्रीकृष्ण को खूब अच्छी तरह देखा तथा सुना है। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण-गान हमारे लिए काफी पुराना हो चुका है।

इस प्रकार कहने पर जब भ्रमर की झंकृति की गुंजार कुछ मन्द हो गई तो

उसे खिन्न सा जानकर उत्तरार्ध में यह बताया गया है कि हम तो व्रज की सीधी-सादी निष्कपट गोपियाँ हैं। हम अविवेकी तथा गानोपजीवी जीव पर क्रोध नहीं करतीं। तुम्हें गाने की जगह और गाने का विषय बता देती हैं। तुम श्रीकृष्ण की सखियों के पास जाकर गाओ और उन प्रसंगों को गाओ जिनमें श्रीकृष्ण ने हमारा त्याग कर दिया है तथा नागरी स्त्रियों ने अपने मधुर वचनों से श्रीकृष्ण को वश में कर लिया है। इस प्रकार सम्मानित होने पर वे नागरियाँ ही प्रसन्न होकर तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध करेंगी। क्योंकि उन स्त्रियों के स्तनों की पीड़ा कामयुद्ध में आलिंगन तथा करमर्दन से नष्ट हो चुकी है। अन्तिम वाक्य से श्रीकृष्ण का सकटाक्ष उपहास व्यंजित होता है।

इस पद्य में 'विजल्प' बताया गया है। विजल्प का अर्थ है 'स्पष्ट असूया द्वारा और छिपी हुई मानमुद्रा की लीला द्वारा कटाक्ष-उपहास करना करना'।

'व्यक्तयासूयया गूढमानमुद्रात्तलीलया।
अलं द्विषि कटाक्षोक्तिर्विजल्पो विदुषां मतः॥'

(२) **उद्धवपक्ष**। इस पक्ष में 'बहुषडंघ्रि' यह एक पद समझना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि कमल की माला की सुगन्ध पर खिची हुई अनेक भँवरियाँ तुम्हारे पास भी विद्यमान हैं। शेष अर्थ समान है।

(३) **श्रुतिपक्ष**। इस पक्ष में षडंघ्रि पद से जीवात्मा का ग्रहण किया है कि हे जीवात्मा! तुम ६ चरण वाले हो। पंच कर्मेन्द्रियाँ और छठा मन। इनके द्वारा ही तुम्हारी गति-आगति है।

(क) **'अधिपतिमगृहाण'** इस पद का पदच्छेद यहाँ इस प्रकार करना चाहिए। (१) अधिपतिम् (२) अ (३) गृहाण। हे अ! हे वासुदेव-श्रीकृष्ण! तुम ही अधिपति हो। प्रकृति के अधिष्ठाता हो। प्रकृति में सत्ता की स्फूर्ति तुम ही प्रदान करते हो। अतः प्रकृति से भी पुराने होने के कारण तुम पुराण-पुरुषोत्तम कहलाते हो। तुम अधिपति-भाव अर्थात् वासुदेव-भाव को ग्रहण करो। यहाँ यह स्मरणीय है कि अनात्म प्रकृति की अपनी स्वतन्त्रता से जगत्कारणता का पक्ष श्रुतिसम्मत नहीं है। यदि यह कहा जाय कि प्रकृति की ईश्वर-पराधीनता युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि प्राचीन सांख्यशास्त्री निरीश्वरवादी थे। उन्होंने ईश्वर की सत्ता को ही नहीं माना था। त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ही जगत् का स्वतन्त्र उपादान कारण माना था। अचेतन भी प्रकृति में चेतनत्व का उपचार किया था। जैसे अचेतन नदी के तट में 'तट गिर रहा है' इस वाक्य में चेतनत्व का उपचार होता है। जिस प्रकार कोई छात्र यह विचार करके 'मैं प्रतिदिन पाठशाला जाऊँगा' और प्रतिदिन पाठशाला जाता है। उसी प्रकार प्रकृति भी महत्तत्त्व आदि के माध्यम से नियम से प्रवर्त्तित होती है। किन्तु सांख्यशास्त्र का यह प्रकृति-स्वातन्त्र्यवाद श्रुतिसम्मत नहीं है। अतः हे जीवात्मा! तुम इस मत का अनुसरण मत करो। वस्तुतः जो भगवान्

वासुदेव-श्रीकृष्ण सबके कारण हैं और स्वयं अकारण हैं वही तुम हो। तुम उनसे भिन्न नहीं हो। अतः 'मैं ही वासुदेव श्रीकृष्ण हूँ' इस 'अहं कृष्णोऽस्मि' इस भाव को तुम अपनी आत्मा से ग्रहण कर लो। अथवा यहाँ 'अधिपतिम' सम्बोधन मानना चाहिए। अर्थात् अधिपति में जिसकी मा (प्रमा बुद्धि) है। तुम श्रुतिविरुद्ध मत की उपेक्षा करके, समस्त अनर्थ की जड़ माया को तरने के लिए माया के अधिपति वासुदेव-श्रीकृष्ण में ही अपनी प्रमा को स्थिर कर लो।

(ख) **विजयसख**। इस पद को भी यहाँ हे विजयसख ! यह सम्बोधन समझना चाहिए। विजय का अर्थ परमात्मा है। जिसकी विशेष रूप से जय हो वह विजय है। उसका सखा जीवात्मा है। हे जीवात्मा ! तुम परमात्मा के सखा हो। तुम तुम्हारी सखियाँ श्रुतियाँ हैं। हम श्रुतिरूपिणी सखियों के सम्बन्ध से तुम उस प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा के प्रसंग-समन्वय का गान करो। यही तुम्हारे लिए आदेश-सन्देश है।

(ग) **क्षपितकुचरुजः**। इस पद का पदच्छेद इस प्रकार करना चाहिए। (१) क्षपित। (२) कुचरु। (३) (कुचरु-) जः। कुचरु शब्द का अर्थ अज्ञान है। जो कुत्सित चलता है और अनर्थ के कारणभूत अहंकार में बदल जाता है, वह कुचरु है। कुचरु से उत्पन्न होने वाला समस्त संसार 'कुचरुज' कहलाता है। अतः हे जीवात्मा ! तू उस वासुदेव-श्रीकृष्ण का गान कर, जिसने समस्त अज्ञान तथा अज्ञानजन्य संसार को नष्ट कर दिया है। इस प्रकार का गान करने से हम श्रुति-सखियाँ सम्मानित होकर प्रसन्न हो जावेंगी और तुम्हारे इष्ट (मोक्ष) की प्रकल्पना को प्रस्तुत कर देंगी।

(१५)

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः॥

स्वर्ग-लोक, भू-लोक तथा पाताल-लोक में कौन ऐसी स्त्रियाँ होंगी जो कपटपूर्ण रुचिर हास से भ्रुवों को विजृम्भण करने वाले (श्रीकृष्ण) के लिए दुःख से प्राप्त करने योग्य हों। जिसके चरणरज की भगवती लक्ष्मी उपासना करती है, (उसके पास) हमारी क्या गिनती है ? कृपणों के पक्ष में ही उसके लिए 'उत्तमश्लोक' शब्द है।

दूत का यहाँ यह तात्पर्य है कि मथुरा में सभी क्षत्रियाणियाँ अन्तःपुर में छिपी रहती हैं। इसीलिए राजकुमारियों तथा राजरानियों के विषय में यह कहा गया है कि

सूर्य भी उनको नहीं देख सकता। 'असूर्यंपश्याः राजदाराः'। अतः मथुरा में श्रीकृष्ण के लिए किसी नागरी को देखना भी कठिन है। वे तो नित्य गोपियों के ही ध्यान में आसक्त रहते हैं। इसलिए उपालम्भ के स्थान पर तुम सब प्रसन्न हो जाओ। तुम सबकी प्रसन्नता का हाल सुनकर श्रीकृष्ण भी प्रसन्न हो जावेंगे। दूत के इसी अभिप्राय का अनुमान मन में करती हुई श्रीप्रिया जी प्रस्तुत पद्य में इसका उत्तर दे रही हैं।

(१) **भ्रमरपक्ष**। श्रीकृष्ण तो त्रैलोक्य का सम्मोहन करने वाले हैं। उनके पास कोई अनोखी वशीकार-विद्या है। उनका हास अत्यन्त रुचिकर है। हास के साथ-साथ भ्रुवों को नचाने में भी वे चतुर शिरोमणि हैं। भ्रूविलास के द्वारा वे स्त्रियों का मोह-आकर्षण कर लेते हैं। किन्तु उनका हास स्वाभाविक नहीं है। कपटपूर्ण है। यह हम जानती हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए किसी भी भोली-भाली स्त्री को मुग्ध कर लेना मामूली बात है। इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण के पास अवश्य ही कोई त्रैलोक्य सम्मोहन तन्त्र की अलौकिक विधि है। इसीलिए साधारण स्त्रियों की तो बात ही क्या, साक्षात् भगवती श्रीमहालक्ष्मी भी श्रीकृष्ण के चरणरज की उपासना करती है। ऐसे व्यक्ति के सामने हम जैसी साधारण गोपियों की तो बात ही क्या है? हम तो अत्यन्त निकृष्ट हैं। इसलिए श्रीकृष्ण ने हमारा त्याग कर दिया है।

इस प्रकार स्वयं अपनी ही अयोग्यता का वर्णन करके अन्तिम चरण में यह बताया है कि ऐसा होने पर भी श्रीकृष्ण कृपण का पक्ष लेते हैं। दीनानाथ हैं। दीन जनों के प्रति अनुकम्पावान् हैं। यही कारण है कि कृपण जन श्रीकृष्ण के लिए 'उत्तम-श्लोक' शब्द का व्यवहार करते हैं। किन्तु इस विशेषण को हम तभी चरितार्थ मानेंगी जब हमारी जैसी दीन गोपियों का भी श्रीकृष्ण स्मरण करें। अन्यथा उनके लिए यह विशेषण मिथ्या सिद्ध हो जावेगा। यहाँ वक्रोक्ति यह ध्वनि निकलती है कि श्रीमहालक्ष्मी सहित अन्य नागरी-सुन्दरियों की उपेक्षा करने वाले श्रीकृष्ण की अपेक्षा हम गोपियाँ ही श्रेष्ठ हैं, जिन्होंने अपने मूल स्थान का त्याग नहीं किया। यह गर्वोक्ति भी निकलती है कि यदि हम श्रीकृष्ण के लिए नगण्य हैं तो श्रीकृष्ण भी हमारे लिए नगण्य है। अथवा यह भाव ध्वनित होता है कि कृपण जन ही अपनी कृपणता के कारण श्रीकृष्ण को 'उत्तमश्लोक' कहते हैं और उसकी कीर्ति का गान किया करते हैं। हम तो श्रीकृष्ण की वास्तविकता से परिचित हैं।

इस पद्य में 'उज्जल्प' का प्रयोग किया गया है। उज्जल्प उसे कहते हैं जिसमें गर्वगर्भित ईर्ष्या द्वारा असूयापूर्वक आक्षेप किया जाय।

'हरेः कुहकताख्यानं गर्वगर्भितयेर्ष्यया।
सासूयश्च तदाक्षेपो धीरैरुज्जल्प इष्यते॥'

(२) **उद्धवपक्ष** में समान अर्थ है।

(३) **श्रुतिपक्ष**। यहाँ इस अर्थ की प्रतीति होती है कि स्वर्ग आदि श्लोकों में रहने वाली आनन्दघन ब्रह्म सम्बन्धिनी श्रुतियाँ पतिव्रताओं के समान अपने इष्ट-स्वार्थ के साथ नित्य सहचार सम्बन्ध रखती हैं। कपटपूर्ण रुचिर हास से युक्त भ्रू-

विजृम्भण द्वारा 'कर्मकर्ता' जीवात्मा उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँ 'हास' पद का अर्थ 'जन-उन्मादकारिणी माया' है और 'भ्रूविजृम्भण' का अर्थ 'परमेष्ठिधिष्य' है। इस प्रकार दोनों पदों से मायालोक तथा सत्यलोक का ग्रहण किया जाता है। जो वासना के संक्रमण में रमे रहते हैं। जो दुःख के कारणभूत मिथ्या प्रपंच में फँसे रहते हैं। जिनका चित्त लौकिक सुख की भ्रान्ति में डूबा रहता है। जो स्त्रियों की वासना में आसक्त रहते हैं। ऐसे कर्मकर्ता का प्रतिपादन उपनिषदों की विषयवस्तु नहीं है। वेदान्तशास्त्र के विद्वान् यह जानते हैं कि परिनिष्ठित ब्रह्म और औपनिषदिक ब्रह्म चक्षुरिन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से होने वाली ब्रह्मानुभूति-शास्त्रज्ञान की भी पूर्ण अपेक्षा रखती है। यदि यह कहा जाय कि जाति, गुण, कर्म, स्वरूप तथा संज्ञा के सम्बन्ध से शब्द की प्रवृत्ति-निवृत्ति का सम्बन्ध ब्रह्म में नहीं घटता, फिर श्रुतियाँ किस प्रकार ब्रह्म का प्रतिपादन कर सकती हैं। तो इसका उत्तर श्रुतियों के रहस्य सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध में संकेतित है। अनन्त कोति ब्रह्माण्डों की रचना में समर्थ साक्षात् महामाया श्रीलक्ष्मी जिसके चरणरज की उपासना करती है, वहाँ हमारी क्या गिनती है। हम तो दूर से ही उस परब्रह्म श्रीकृष्ण के स्वरूप का अनुसन्धान करती हैं, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म तो वाणी तथा मन से अगोचर है। जीवात्मा-पक्ष में कृपण वह कहा जाता है जो आत्मतत्त्व को जाने बिना ही इस लोक से चला जाता है। आत्मज्ञान के लिए समिधा हाथों में लेकर किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए।

'आत्मानमविदित्वा योऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।
'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥'

(१६)

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किन्तु सन्धेयमस्मिन्॥

सिर पर रखे हुए पैर को छोड़ दो। मुकुन्द-श्रीकृष्ण के पास से आकर चापलूसी से भरे हुए मीठे-मीठे वचनों से पूर्ण दूतकर्मों से अनुनय-विनय करने में विद्वान् तुम्हारा मैं सब जानती हूँ। असंयतचित्त (अकृतचेताः) श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने लिए हम सबको छोड़ दिया था, जबकि हमने यहाँ सन्तान, पति, अन्यान्य माता-पिता आदि बन्धु-बान्धव तथा इतर जनों का अथवा स्वर्ग-आदि लोकों का भी त्याग कर दिया था। इस प्रकार के श्रीकृष्ण के विषय में क्या सन्धान करना है?

श्रीप्रिया जी के चरणों में कमलबुद्धि से भ्रमर और पूज्यबुद्धि से उद्धव झुक

रहे थे। उन्होंने प्रिया जी के चरणों को अपने मस्तक पर धारण कर लिया था और क्षमायाचना कर रहे थे। इसी भाव को मन में रखकर प्रस्तुत पद्य की परिकल्पना है।

(१) **भ्रमरपक्ष**। राधारानी का कथन है कि अपने मस्तक पर रखे हुए मेरे चरण को छोड़ दो। मस्तक पर मेरा चरण रखने से हमारे दुःख की निवृत्ति नहीं होगी। इतने पर क्षमा याचने पर उनका कथन है कि तुम मुकुन्द-श्रीकृष्ण के पास से दूत बनकर आए हो। उसने तुमको दूतकर्म की शिक्षा-दीक्षा अच्छी तरह दे रखी है। तुम चापलूसी में सिद्धहस्त हो। मीठी-मीठी बातें बनाकर हमारा मन बहलाने में पण्डित हो। यद्यपि 'मुकन्द' का अर्थ 'मुकु' अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाला है। किन्तु व्यवहार में वह मोक्ष प्रदान करने की अपेक्षा बन्धन देने वाला ही प्रतीत होता है। उसका जैसा नाम है, उसके सर्वथा विपरीत ही उसका आचरण है। इसलिए तुमने जो कुछ उससे सीखा है उसका विपरीत अर्थ ही लगाना चाहिए। हम तो जिस प्रकार मुकुन्द-श्रीकृष्ण का विश्वास नहीं करतीं, तुम्हारा भी नहीं कर सकतीं क्योंकि उसी के सिखाए पढ़ाए हुए दूत हो। भगवती श्रीमहालक्ष्मी भले ही श्रीकृष्ण के भुलावे में आ जाय, किन्तु हम तो उसके वचनों के विपरीत भाव तथा विपरीत अर्थ को खूब समझती हैं। तुम्हारी वाङ्माधुरी भी यद्यपि चातुरी से पूर्ण है, तथापि उसका पर्यवसान वंचना में होने से वह निष्फल है। यहाँ 'मुकुन्द' शब्द से यह भी ध्वनि निकलती है कि श्रीकृष्ण देहावसान के बाद कदाचित् मोक्ष प्रदान करते हों, हमें तो उन्होंने जीते जी ही अधिक बन्धन तथा प्रपंच में बाँधा है। अथवा एक तरफ तो तुम उस मुकुन्द-श्रीकृष्ण के पास से उसके दूत बनकर आए हो जो मोक्ष प्रदान करने वाला है और मोक्षप्राप्ति के लिए मोक्ष के साधन ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने वाला है। दूसरी तरफ तुम हमें श्रीकृष्ण का प्रेम-सन्देश समझाना चाहते हो। इस परस्पर विरुद्ध धर्म की यथार्थता हम समझ चुकी हैं। अतः इस विषय में तुम्हारा पाण्डित्य निरर्थक है। यदि यह कहा जाय कि तर्क तो अप्रतिष्ठित होता है। एक तर्क दूसरे प्रबल तर्क से खण्डित हो जाता है। (तर्काऽप्रतिष्ठानात्)। अतः तर्क द्वारा कभी भी एकतत्त्व का निर्णय नहीं हो सकता। अतः तुम वृथा ही श्रीकृष्ण में दोष ढूँढ-ढूँढ कर खिन्न हो रही हो। तुम श्रीकृष्ण की प्राणप्रिया हो, श्रीकृष्ण तुम्हारे प्राणप्रिय हैं। तुम परस्पर एक दूसरे से सन्धि कर लो तो सब झगड़ा ही मिट जावेगा। इस तर्क का उत्तर प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध में दिया गया है कि श्रीकृष्ण ने तो स्वयं अपने लिए हम सबको जीते जी ही मरने के लिए छोड़ दिया है, जबकि हमने श्रीकृष्ण के प्रेम के पीछे घर-बार, पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव और यहाँ तक कि स्वर्ग आदि लोकों की कामना को भी छोड़ दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण का चित्त संयत नहीं है, यह अकृतचेताः अकृतज्ञ है। अथवा उसने हमारे में अपना चित्त ही नहीं किया था (अकृतचेताः)। यह लोक-रीति है कि जब कोई व्यक्ति परदेश जाता है तो अपनी प्रिय पत्नी का चित्र साथ ले जाता है। अथवा उसके प्रेम तथा गुणों का चित्र चित्त में खींच कर ले जाता है। किन्तु श्रीकृष्ण तो हमें तन-मन से छोड़ गए। क्या इस प्रकार के अकृतज्ञ तथा निष्ठुर व्यक्ति के साथ सन्धि की

जा सकती है ? यद्यपि श्रीकृष्ण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं, कर्तुअकर्तु अन्यथाकर्तुसमर्थ हैं किन्तु व्यवहार दशा में उन्होंने अपने कर्तव्य का लेशमात्र भी पालन नहीं किया। जो कुछ किया वह हमने ही किया। अतः ऐसे कर्तव्य निरपेक्ष अपराधवान् व्यक्ति में दोषारोपण करना असत् तर्क नहीं कहा जा सकता। हमारा तो सतर्क है। सतर्क का आधार सद्युक्ति होता है। इसलिए सतर्क को सद्विचार भी कहते हैं। इस स्थिति में यदि सन्धि की बातचीत चलानी है तो वह श्रीकृष्ण को ही चलानी चाहिए।

इस पद्य में 'संजल्प' वर्णित है। 'संजल्प' उसे कहते हैं जहाँ गहन आक्षेप मुद्रा के द्वारा अकृतज्ञता प्रकट की जाय।

'सोल्लुण्ठया गहनया कयाप्याक्षेपमुद्रया।
तस्याऽकृतज्ञतायुक्तिः संजल्पः कथितो बुधैः॥'

(२) **उद्धवपक्ष**। इस पक्ष का अर्थ प्रथम पक्ष की तरह ही है।

(३) **श्रुतिपक्ष**। यह पहले बताया जा चुका है कि जब तक जीवात्मा अविद्या के अन्धकार में भटकता रहता है, तब तक उसमें अन्तःकरण के तादात्म्य का अध्यास भी बना रहता है। जब तक यह अध्यास है तब तक अनर्थपरम्परा का सिलसिला चालू रहता है, और तब तक उपनिषदों के तात्पर्यभूत प्रत्यगात्मा से अभिन्न परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार की अपरोक्षानुभूति से जीवात्मा पृथक् ही रहता है। अब यह प्रतिपादन किया जा रहा है कि जीवात्मा को अन्तरंग साधन के रूप से भगवान् की अनुवृत्ति-सेवा का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए।

(क) यहाँ यह समझना चाहिए कि मोक्षप्राप्ति के साधनभूत जितने वाक्य हैं, वे ही दूत वाक्य हैं। ये वाक्य वेदवाक्य हों, उपनिषद् वाक्य हों, महावाक्य हों अथवा श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निकले हुए भगवद्गीता के उपदेश वाक्य हों। इन्हीं वाक्यों को मधुर चाटुकार वाक्य कहा जा सकता है। जो जीवात्मा इन वाक्यों का अनुसरण करती है, वह श्रीकृष्ण में अनन्य शरण प्राप्त कर लेती है। अतः हे जीवात्मा ! तुम यद्यपि अनुनय-भाव से विमुख हो, तथापि अभिसुख वृत्ति से परमात्मा की अनुवृत्ति करते रहो और उस विद्वानों के विद्वान् परमात्मा श्रीकृष्ण चरणारविन्द के चिन्तन को कभी मत भूलो। इस प्रकार की अनुवृत्ति के लिए जीवात्मा को अथवा साधक भक्त को चित्त की चार वृत्तियाँ बना लेनी चाहिए।

(i) पहली वृत्ति मन से भगवान् की अनन्य शरण का वरण करने की है। भगवान् की शरण का मन को पूर्णरूप से विश्वास हो जाना चाहिए कि भगवान् ही मेरे एकमात्र शरण अर्थात् रक्षक हैं।

(ii) दूसरी वृत्ति यह है कि वाणी से हमेशा भगवान् से यह प्रार्थना करते रहना कि 'मैं तुम्हारा ही हूँ'। जन्म-जन्मान्तर से तुम्हारा दास हूँ। तुम मेरे स्वामी हो। स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध में स्वामी का मुख्य धर्म सेवक की रक्षा करना होता है।

(iii) तीसरी वृत्ति से हमेशा मस्तक से भगवान् के चरणों में प्रणाम करना और भगवान् के चरणामृत का पान करके मस्तक पर धारण करना।

(iv) चौथी वृत्ति से हमेशा हाथों से भगवान् को प्रणाम तथा पुष्प अर्पण करना और पैरों से भगवान् की अर्चा-मूर्ति की परिक्रमा करना।

इस प्रकार जो जीवात्मा मन, वचन तथा कर्म से निरन्तर भगवान् की आराधना करती रहती है, उसे अवश्य ही ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त होता है। अतः हे जीवात्मा ! तुम भी इसी प्रकार की चर्या तथा आचरण-क्रिया द्वारा परम कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त करो।

(ख) यहाँ 'अकृतचेताः' पद में इस प्रकार पदच्छेद कर लेना चाहिए। अकृत। च। इताः। अब यह अर्थ होगा। हे अकृत ! हे अज जीवात्मा ! अपने अभीष्ट पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के लिए जिन जीवात्माओं ने अपने पुत्र-मित्र, पति-पत्नी, पिता-भ्राता, लोक-परलोक सब कुछ भगवान् को अर्पित कर दिया है, वे जीवात्माएँ मोक्ष-गति को चली जाती हैं (इताः गताः)।

(१७)

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद् ध्वांक्षवद् य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥

जिसने (रामचन्द्रावतार में दशरथ-आत्मज श्रीराम के रूप में) लुब्ध-पुरुष के धर्मों से युक्त होकर कपीन्द्र बाली को (तीर से) वेध दिया था। जिसने स्त्री (सीता) से पराजित होकर कामवासना की प्राप्ति की साधनरूपिणी स्त्री (शूर्पणखा) को विकृत कर दिया था। जिसने (वन्मनावतार में वामन के रूप से) समर्पित पूजा-सामग्री को स्वीकार करके भी काक के समान महाराज बलि को घेर लिया था। ऐसे कृष्ण व्यक्ति की मित्रता को नमस्कार है। फिर भी उस श्रीकृष्ण की कथावस्तु का त्याग करना कठिन है।

(१) भ्रमर पक्ष। यहाँ यह तर्क उपस्थित किया गया है कि निरपराध व्यक्ति का उपकार करने में साधारण जन की भी प्रवृत्ति नहीं होती, फिर यह कैसे सम्भव है कि अनन्त कल्याण गुणनिधि कृतज्ञ शिरोमणि रासरासेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की तुम निरपराधिनियों को दुःख देने में प्रवृत्ति होगी। अतः श्रीकृष्ण में दोषारोपण तथा दोषान्वेषण की अपेक्षा तुम्हें अपने में ही दोष ढूँढने चाहिए। इस तर्क का उत्तर गोपी-पक्ष से राधारानी ने प्रस्तुत पद्य में दिया है कि श्रीकृष्ण का तो जन्म-जन्मान्तर से निरपराध व्यक्ति को दुःख देने का स्वभाव है। इसकी सिद्धि के लिए यहाँ तीन प्रमाण दिए गए हैं।

(क) रामचन्द्रावतार में श्रीकृष्ण ने श्रीराम के रूप से निरपराध बाली को व्याध के समान लोभी व्यक्ति के क्रूरता आदि धर्मों से युक्त होकर, छिपकर बाण से मार दिया था। जैसे कोई शिकारी कवच के पीछे छिपकर शिकार करता है, वैसे ही श्रीराम ने सात वृक्षों के पीछे छिपकर बाली का शिकार किया था। इस पर भी विलक्षणता यह थी कि साधारण शिकारी तो अपकार नहीं करने वाले मृग आदि पशु को अपने लाभ के लिए मारता है, किन्तु श्रीराम ने तो अपकार नहीं करने वाले वानरराज बाली को अपने लाभ के लिए भी नहीं मारा। क्योंकि एक तरफ तो बाली भगवती सीता को ढूंढने में श्रीराम की सहायता कर सकता था, दूसरी तरफ वानर का मांस-भक्षण भी शास्त्रनिषिद्ध होने से श्रीराम के काम का नहीं था।

(ख) रामचन्द्रावतार में ही श्रीराम के रूप से श्रीकृष्ण ने सीता के प्रेम-मोह के वशीभूत होकर निरपराधिनी शूर्पणखा नाम की स्त्री के नाक-कान कटवा कर उसे कुरूपिणी बना दिया था। शूर्पणखा केवल निरपराधिनी ही नहीं थी, बल्कि काम का यान बनकर आई थी।

(ग) वामनावतार में ब्राह्मण वामन के रूप से श्रीकृष्ण ने निरपराधी, विनीत, त्रिलोकी का दान देने वाले महाराज बलि की भेंट-पूजा स्वीकार करके उन्हें काक के समान घेर कर बाँध लिया था। जैसे काक बलि की सामग्री खाकर अन्यान्य काकों को बुला लेता है और सब काक मिलकर बलि देने वाले को घेर लेते हैं।

इस तरह के कृष्णकर्मा कृष्ण को दूर सेही नमस्कार है। एक बार उससे मित्रता के फलस्वरूप हमने खूब दुःख पाया। अब दुबारा मित्रता करके नए दुःख को भोगने का साहस हमारे में नहीं है। यदि कहें कि फिर तुम कृष्णकथा के गान तथा श्रवण में कैसे डूबी रहती हों, तो उनका उत्तर है कि कृष्णकथा का त्याग करना असम्भव है। यदि कहें कि परनिन्दा तथा परदोष का गान करना शास्त्रनिषिद्ध है, तो उनका उत्तर है कि यह बात ठीक होने पर भी कोप के कारण हम चुप नहीं रह सकतीं। हमें तो अब अपने अवशिष्ट जीवन में कृष्णकथा का ही अवलम्बन है। यदि कहें कि प्रेमास्पद प्रिय व्यक्ति के साथ कभी मतभेद हो भी जाय तो हृदय की गाँठों को भूलकर पुनः मित्रता कर लेना ही श्रेयस्कर माना जाता है। तो उनका उत्तर है कि हमने तो श्रीकृष्ण की शठता, कामिता तथा वंचकता का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। अतः दुबारा मित्रता का नाम भी नहीं लेने की प्रतिज्ञा कर रखी है। यदि कहें कि एक बार श्रीकृष्ण में वंचकता आदि देखने से नित्य सहचार सम्बन्ध स्थिर नहीं हो सकता, "जहाँ-जहाँ कृष्णत्व है वहाँ-वहाँ वंचकत्व है।" यह व्याप्ति सम्बन्ध स्थिर नहीं हो सकता; तो उनका उत्तर है कि हमने यह सहचार सम्बन्ध भूयोदर्शन के बाद ही स्थिर किया है। इस सब पर भी हमने श्रीकृष्ण का त्याग नहीं किया है बल्कि श्रीकृष्ण ने ही हमारा त्याग किया है।

इस पद्य में 'अवजल्प' का वर्णन है। अवजल्प का अर्थ है जब हरि-कृष्ण में

कठिनता, कामिता, धूर्तता, उदासीनता, आसक्ति तथा अयोग्यता ईर्ष्या से साथ बताई जाय।

'हरौ काठिन्यकामित्वधौर्त्योदासत्त्वयोग्यता।
यत्र सेर्ष्यभियैवोक्ता सोऽवजल्पः सतां मतः॥'

(२) **उद्धवपक्ष**। इस पक्ष में प्रथम पक्ष के तुल्य अर्थसंगति है।

(३) **श्रुतिपक्ष**। इस पक्ष में जीवात्मा को यह बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण की ही अनन्य शरणागति लेनी चाहिए। श्रीकृष्ण ही शरणागत वत्सल हैं। भक्तों का पक्ष लेना श्रीकृष्ण का स्वभाव है। इसीलिए मारने के अयोग्य निरपराधी बाली को श्रीराम ने शिकारी के समान छिपकर मारा था। इसका प्रयोजन अपने शरणागत भक्त सुग्रीव की रक्षा करना था। श्रीराम तो आप्तकाम थे। आत्माराम थे। अलुब्धधर्मा थे। लोभ आदि धर्मों का तो उनमें लेशमात्र भी स्पर्श नहीं था। इसी प्रकार शूर्पणखा भी यद्यपि कुरूप बनाने योग्य नहीं थी। तथापि उसे कुरूप करने का प्रयोजन श्रीराम का भगवती सीता की भक्ति तथा प्रेम-शरणागति से वशीभूत होना था। महाराज बलि भी परम धार्मिक थे। बलवान् तथा दानी थे। भगवान् ने उनकी पूजा भी स्वीकार करली थी। तथापि इन्द्र आदि स्वाश्रित शरणागत देवताओं की रक्षा के लिए ही उन्हें बाँधा था। जैसे काक सजातीय काकों का पक्ष लेता है, वैसे ही भगवान् अपने भक्तों की रक्षा के लिए अकार्य भी करने को तैयार रहते हैं। इसलिए जो सांसारिक पति-पत्नी, पुत्र-मित्र, धन-धान्य आदि असित (कृष्ण) पदार्थ संसार में बन्धन तथा प्रपंच उत्पन्न करने वाले हैं, उनकी मित्रता तथा उनमें मोहबुद्धि से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है। अनन्त अनन्त प्राक्कल्पों में असित पदार्थों के फल-भोग प्राप्त होते रहे हैं। अतः हे जीवात्मा! अब तुम उन सबका त्याग कर दो और अनन्य चित्त से केवल वसुदेवनन्दन भगवान-श्रीकृष्ण की शरण ले लो। श्रीकृष्ण करुणावरुणालय हैं वे अपने शरणागत को अपनी करुणाकटाक्षलहरी से सींच कर परम कल्याण प्रदान करते हैं।

(१८)

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इव विहंगा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥

जिस श्रीकृष्ण की अनुचरित्ररूपिणी लीलाएँ ही कानों के लिए अमृत हैं। उस अमृत का एक कण भी एक बार भी चख लेने से जिनके राग-द्वेष आदि द्वन्द्व धर्म निरस्त हो जाते हैं। वे (सांसारिक दृष्टि से) सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति तत्काल (लीला सुनते ही) घर तथा घर में रहने वाले कातर माता-पिता, पुत्र-पुत्री,

पौत्र-प्रपौत्र आदि स्वाधीन पोष्य वर्ग को छोड़कर, स्वयं दीन होकर, असंख्य पक्षियों के समान भिक्षुचर्या का आचरण करने लगते हैं।

(१) भ्रमरपक्ष। यहाँ श्रीकृष्ण की लीला-कथा का अनोखा महत्त्व बताया गया है। गोपियों को यह अच्छी तरह मालूम था कि श्रीकृष्ण की लीलाकथावस्तु समस्त सांसारिक पुरुषार्थों का उच्छेद करने वाली है। पद्य से यहाँ निम्नलिखित दो अभिप्राय प्रकट होते हैं।

(क) श्रीकृष्ण की लीलाकथा के अमृतकण को भी एक बार भी जो चख लेता है वह पति अपनी पत्नी के प्रति प्रेम करना भूल जाता है। जो पत्नी चख लेती है वह पति में लौकिक प्रेम भूल जाती है। जो माता-पिता चख लेते हैं, वे पुत्र-पौत्र में स्नेह भूल जाते हैं। इस प्रकार लौकिक स्नेह की ग्रन्थियाँ खोलकर वह व्यक्ति परवैराग्य प्राप्त कर लेता है और घर-बार तथा स्वाधीन वृद्ध-बाल को भी छोड़ देता है। वह स्वयं दीन बन जाता है। यह स्मरणीय है कि वैष्णव उपासना पद्धति में दीनता को ही शरणागति का मूल माना गया है। जिस प्रकार असंख्य पक्षी परिग्रह के बिना ही यहाँ-तहाँ धान्य कण चुग लेते हैं, उसी प्रकार वह व्यक्ति भी अपरिग्रह का नियम लेकर लोकसंग्रह छोड़ देता है और भिक्षावृत्ति ग्रहण कर लेता है। गोपीपक्ष से यहाँ यह भाव ध्वनित होता है कि श्रीकृष्ण की लीलाकथा का रसपान करने वाले व्यक्ति सांसारिक बन्धन तोड़कर अकिंचन तथा निःसहाय हो जाते हैं और सांसारिक दृष्टि से दुर्गत कहे जाते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण में दुःखदातृत्व का आरोप लगाया जाता है।

(ख) यहाँ 'अनुचरित' शब्द का अर्थ समझने योग्य है। श्रीकृष्ण के जो-जो पूर्वचरित्र थे उनको जब कृष्णद्वैपायन व्यास ने शब्द द्वारा बाँध लिया तो वे 'अनुचरित' कहलाए। जिस प्रकार वस्त्र के व्यवधान होने पर भी प्रचण्ड सूर्य का ताप पीड़ित करता है, उसी प्रकार शब्द का व्यवधान होने पर भी श्रीकृष्णचरित्र अपनी मूल विशेषता को नहीं छोड़ता। उस चरित्र की लीलाकथा के अमृत का एक कण भी कानों के लिए अतिशयप्रिय तथा मधुर है। इस अमृत का एक कण पीकर भी मनुष्य द्वन्द्वातीत अवस्था में पहुँच जाता है। अर्थात् उसके राग-द्वेष आदि द्वन्द्व धर्म नष्ट हो जाते हैं। उसका चित्त लीलाकथा की अमृतविन्दु में इतना डूब जाता है कि उसे अपने देह का भी अनुसन्धान नहीं रहता। वह दीन होकर दीन कुटुम्ब को छोड़कर विहंग (हंस) अर्थात् परमहंस कोटि को प्राप्त कर लेता है। ऐसे परमहंस भक्त श्रीकृष्ण की लीला-कथाओं का गान करते-करते विचरते रहते हैं।

इस पद्य में 'अभिजल्प' वर्णित है। अभिजल्प उसे कहते हैं जहाँ भङ्गी द्वारा पक्षियों के लिए भी खेद तथा अनुशय के साथ त्याग का औचित्य बताया जाता है।

'भङ्ग्या त्यागोचितिस्तस्य खगानापि खेदनात्।
यत्र सानुशयं प्रोक्ता तद्भवेदभिजल्पितम्॥'

(२) उद्धवपक्ष। प्रथम पक्ष के समान ही अर्थ प्रतीति है।

(३) श्रुतिपक्ष। इस पक्ष में पद्य के पूर्वार्ध के दोनों चरण एक ही समस्त पद

है। अन्तिम अंश में द्वन्द्वधर्मा तथा अविनष्टाः पदच्छेद करने से यह अर्थ निकलता है कि जिन्होंने श्रीकृष्ण की लीलाकथा का अमृतकण चख लिया है और जिनके द्वन्द्वधर्म नष्ट हो गए हैं, वे स्वयं अविनष्ट रहते हैं। जो द्वन्द्वधर्मा हैं वे विषयभोगरूपी विष पीकर नष्ट हो जाते हैं। जो द्वन्द्वातीत हैं वे विषयभोग का विष नहीं पीते। वे श्रीकृष्ण की कथा का अमृत पीते हैं। अतः कभी नष्ट नहीं होते। ऐसे व्यक्ति तुच्छ गृह-कुटुम्ब को त्यागकर दीन बन जाते हैं। उनमें मोह, अविद्या, उद्दण्डता तथा उद्धतता नहीं रहती। वे विनयसम्पन्न हो जाते हैं और विनय के कारण ज्ञानी बन जाते हैं। इस प्रकार अकिंचन होकर अकिंचनगोचर श्रीकृष्ण के कृपापात्र बन जाते हैं। हंसों की तरह ऐसे परमहंस सार-असार, सत्य-असत्य, ज्ञान-अज्ञान तथा सुख-दुःख का विवेक करने में चतुर बनकर आनन्दसागर में डूब जाते हैं। हे जीवात्मा ! ऐसे श्रीकृष्ण की लीलाकथा के अमृतकण की जय हो। यह अमृतकण हमारे तथा तुम्हारे कानों को तृप्त करे।

(१९)

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत् तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन् ! भण्यतामन्यवार्ता॥

हम अज्ञ थीं। तुम श्रीकृष्ण की वधू थीं। हमने (तुम्हारे) जिह्म (कपटी बन्धु श्रीकृष्ण) के वचनों को सत्य के समान श्रद्धा से मान लिया था। जैसे कृष्णसार मृग की वधू अज्ञा हरिणियाँ किसी कुलिक अर्थात् मृग का वेष बनाकर गाने वाले के गीत शब्द को सच्चा मान लेती हैं, उसी प्रकार हमने भी उस कुलिक अर्थात् उच्च कुल में उत्पन्न श्रीकृष्ण के वचन को सच्चा मान लिया था। जैसे हमने बार-बार इस श्रीकृष्ण के नखस्पर्श के तीव्र स्मर की पीड़ा को देखा था, उसी प्रकार इन हरिणियों ने भी कुलिक के शब्द में श्रद्धा करके इसी प्रकार की पीड़ा को देखा था। अतः हे उपमन्त्रिन् ! हे सान्त्वनापूर्वक विश्वास के उपदेशक ! तुम कोई दूसरी बात करो।

(१) भ्रमरपक्ष। इस पक्ष में पद्य का अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिए।

(क) गोपियों ने स्वयं को अज्ञा कहा है। अज्ञा का अर्थ नासमझ है। उनका तात्पर्य है कि यद्यपि हम बचपन से ही श्रीकृष्ण की सहचरी सखियाँ थीं, किन्तु हम ग्रामीण होने के कारण श्रीकृष्ण के झूठे वंचकतापूर्ण वाक्जाल को नहीं समझ सकीं। उसके यथार्थ स्वभाव तथा प्रकृति से अनभिज्ञ रहीं। उसके हृदय में कपट था। हमने उसकी मीठी-मीठी बहकाने वाली वाणी को ऋत अर्थात् वेदवाक्य के समान सत्य समझ लिया था। क्योंकि हमने श्रीकृष्ण को कुलिक अर्थात् उच्च कुल में उत्पन्न माना था। उसकी प्रियवधुओं के रूप में सर्वस्व समर्पण कर दिया था। यहाँ कुलिक का एक बहुत

अनुरूप दृष्टान्त दिया गया है। कुलिक शब्द का दूसरा अर्थ है मृग के समान वेष बनाकर मृग के समान नाचने-गाने वाला व्यक्ति। जब कभी कोई चतुर धूर्त व्याध मृगों का प्राण हरण करने के लिए इस प्रकार का रूप धारण करके जंगल में जाकर नाचने-गाने लगता है। जंगल की भोली-भाली हरिणियाँ अज्ञा होने से उसे कृष्ण-मृग जानकर उसके गाने को सच्चा मानकर, उससे बन्धुता करने बलात् खिची सी चली जाती हैं। और उसके जाल में फँसकर उसके वाणों से घायल होकर पीड़ित होती हैं। गोपियों का आशय है कि श्रीकृष्ण ने भी इसी प्रकार झूठे गोप का रूप धारण किया था। हमने उसे गोप समझकर उसका वधुत्व स्वीकार कर लिया था। प्रेम से उसके पास जाने पर उसने अपने नखों के घावों से अप्राकृत काम की पीड़ा का दुःख पहुँचाया था। इस पद्य में 'ददृशुः' यह क्रियापद लिट्लकार के तृतीय पुरुष के बहुवचन में रखा गया है। यह हरिणियों के कर्तृत्व की दृष्टि से तो ठीक है, किन्तु वाक्य में प्रधान कर्त्ता 'वयम्' है। अतः वचनविपरिणाम द्वारा यहाँ उत्तम पुरुष का बहुवचन 'ददृशिम' क्रियापद समझ कर अन्वय कर लेना चाहिए।

(ख) गोपियों की यह भावध्वनि है कि जिस प्रकार हरिणियों ने व्याध के तीव्र वाणों से पीड़ा का अनुभव किया था, उसी प्रकार हमने श्रीकृष्ण के नखों से पीड़ा का अनुभव किया था। वास्तव में आलिंगन, चुम्बन तथा कटाक्ष आदि तो भुलाए जा सकते हैं किन्तु नखक्षत की पीड़ा अविस्मरणीय होती है। अन्य घाव तो दवा लगाने से भर जाते हैं किन्तु प्रेम-बाण के घाव कभी नहीं भरते। इसीलिए यहाँ 'स्मर' शब्द का प्रयोग किया है। स्मर का एक अर्थ काम है, दूसरा अर्थ स्मरण है। यह पीड़ा हमेशा स्मरण के रूप से स्फुरित रहती है। अतः अनन्त है।

(ग) गोपियों की यह भावध्वनि भी है कि श्रीकृष्ण द्वारा हमारे जैसी नासमझ मानुषी स्त्रियों की ही दुर्दशा नहीं हुई है, बल्कि पाशवी स्त्रियों की भी ऐसी ही दुर्दशा हुई है। हमारी तरह कृष्णमृग की वधुएँ भी नासमझ थीं। उन हरिणियों ने भी श्रीकृष्ण के मुख से बजाई हुई मुरली की गीत-ध्वनि को व्याध का गीत समझकर, व्याध के गीत के रूप में ही सर्वथा सच मानकर दुःख उठाया था।

(घ) भ्रमर को यहाँ उपमन्त्री कहा है। इसका अर्थ है कि वह गोपियों के पास उन्हें सान्त्वना देने तथा श्रीकृष्ण के प्रति उनका विश्वास-अनुराग पुनः जगाने के लिए आया है। गोपियों का कथन है कि हम तो श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप तथा उसकी निज-प्रकृति से परिचित हैं। तुम भी श्रीकृष्ण के अन्तरंग मित्र हो। श्रीकृष्ण की रहस्य वार्ता से परिचित हो। तुम्हारा श्रीकृष्ण के विषय में हमारे सामने कुछ भी कहना निरर्थक है।

इस पद्य में 'आजल्प' का वर्णन है। आजल्प उसे कहते हैं जहाँ निर्वेद के साथ नायक की कपटता तथा पीड़ादायकता प्रकट हो। साथ ही भङ्गी द्वारा सुखदायकता का भाव भी निकले।

'जैह्म्यं तस्यार्तिदत्वं च निर्वेदाद्यत्र कीर्तितम् ।
भङ्ग्यान्यसुखदत्वं च स आजल्प उदीरितः ।।'

(२) **उद्धवपक्ष** । इस पक्ष की अर्थप्रतीति प्रथम पक्ष के समान ही है । केवल 'उपमन्त्रिन्' इस सम्बोधन का अर्थ अन्तरंग मन्त्रणा करने वाला जानना चाहिए ।

(३) **श्रुतिपक्ष** । 'अक्षय्यं वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' चातुर्मास्य में यज्ञ करने वालों का पुण्य अक्षय हो जाता है । 'अपाम सोम अमृता अभूम' हमने सोम पान किया और अमर हो गए । इत्यादि वेदवाक्यों से स्वर्गसुख की नित्यता सिद्ध हो जाती है । अब यह प्रश्न उठता है कि इतने सरल स्वर्गप्राप्ति के साधन विद्यमान होने पर भी सर्वस्व त्याग आदि कठिन आयाससाध्य साधनों को क्यों अपनाया जाय । इसका उत्तर है कि जिस प्रकार छल से प्रयुक्त वाक्य (वाक्छल) अन्य अर्थ को बोध कराते हैं, उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में उदाहृत श्रुतिवाक्यों का तात्पर्य की कर्मकाण्ड की प्रशंसा का बोधक है । अतः अर्थवादमात्र है । ऐसा समझना चाहिए । जो इन वाक्यों की अर्थवादरूपता अर्थात् प्रशंसापरता को नहीं जानते हैं, वे अज्ञ के समान कर्मकाण्ड के प्रति श्रद्धा के भार से दबे रहते हैं । वे यह नहीं जानते कि जो कुछ उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है । जैसे मिट्टी का घड़ा अथवा पाँचभौतिक शरीर । उसी प्रकार स्वर्गप्राप्ति तथा स्वर्गसुख भी उत्पन्न होने के कारण अनित्य है। जो अनित्य नहीं होता अर्थात् जो नित्य होता है, वह कभी उत्पन्न भी नहीं होता । जैसे आकाश, काल, परमाणु तथा आत्मा आदि । अज्ञ जन वेदवाक्यों के वाच्यार्थ को ही सत्य मान लेते हैं ।

यहाँ '**नखस्पर्शतीव्रस्मररुजः**' पद का विच्छेद 'न' । ख । स्पर्श—। आदि करना चाहिए । 'ख' का अर्थ एकाक्षर कोष से इन्द्रिय है । उनसे स्पर्श किए जाने वाले 'विषय' (खस्पर्श) हैं । उनमें जो तीव्र काम अर्थात् इच्छा है, उससे जिनको पीड़ा है । अर्थात् जो व्यक्ति विषयों की अभिलाषा में ही चित्त का बलवान् संस्कार बनाकर जन्म-मरण के संसारचक्र में बारम्बार घूमते रहते हैं । और दुःखी होकर सांसारिक त्रिविध ताप का अनुभव करते हैं । जैसे हरिणियाँ किसी मिथ्या मृग के मधुर शब्द को सच्चा मानकर दुःखित होती हैं । अतः पूर्व उदाहृत श्रुतिवाक्यों का अर्थ अपने वाच्यार्थ में ही सीमित तथा प्रामाणिक नहीं मानना चाहिए । जिस प्रकार कर्म के संस्कार-फल से उत्पन्न लोक कालान्तर में फलक्षय होने पर क्षीण हो जाते हैं । उसी प्रकार पुण्य-फल से उत्पन्न स्वर्गलोक का सुख भी पुण्य क्षय होने पर क्षीण हो जाता है । इसलिए हे उपमन्त्रिन् ! जीवात्मा ! तुम तो सांसारिक प्रपंच की अनित्यता तथा ब्रह्म की नित्यता के प्रतिपादक तत्त्व के रहस्य को जानने वाले हो । उस रहस्य की एकान्त में उपमन्त्रणा करने में निपुण हो । अतः अब कोई दूसरी बात मत करो । अन्यवार्ता का अर्थ है कि ब्रह्म से भिन्न अनात्म जड़पदार्थ की वार्ता भी मत करो ।

(२०)

प्रियसख ! पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमवरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।

नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य ! श्रीवधूः साकमास्ते ।।

हे श्रीकृष्ण के प्रियसखा । क्या तुम श्रीकृष्ण द्वारा भेजे हुए वापिस आए हो ? हे अंग ! प्रियदूत ! तुम माननीय हो । तुम क्या प्राप्त करना चाहते हो ? वर माँग लो । तुम यहाँ स्थित हमें कैसे ले जाओगे ? (वहाँ की नागरियों के) द्वन्द्वभाव श्रीकृष्ण के लिए दुस्त्यज हैं । हे सौम्य ! श्रीदेवी भी वधू के रूप में उस श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर निरन्तर निवास करती है ।

इस प्रकार जब राधारानी ने श्रीकृष्ण के विषय में आलोचना-प्रत्यालोचना, तथा आक्षेप-प्रत्याक्षेप किए, तो वे व्याकुल तथा मुग्ध हो गईं । विह्वल अवस्था में उन्होंने उद्धव को वहाँ नहीं देखा । तो विचार करने लगीं कि क्या उद्धव वहाँ से कहीं अन्यत्र चले गए हैं । अथवा क्या आक्षेप-उलाहनों को श्रीकृष्ण को बताने चले गए हैं । क्या श्रीकृष्ण हमारे उलाहनों को सुनकर स्वयं हमें मनाने आवेंगे । अथवा फिर किसी दूसरे अन्तरंग सखा को या स्वयं उद्धव को दुबारा सन्देश लेकर भेजेंगे । अथवा अब श्रीकृष्ण हमारे प्रति उदासीन हो जावेंगे । इस प्रकार के संकल्प-विकल्प करते समय ही उन्हें उद्धव की पुष्पमाला आदि के गन्ध की प्रतीति हुई और उन्होंने जान लिया कि उद्धव उनके पास आ गए हैं । उन्होंने सोचा कि अप्राकृतप्रेमनिधि अनन्त-अनन्त कल्याणगुणसागर हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण ने उद्धव को वापिस भेज दिया है । यह जान-कर उनका मुख-अरविन्द प्रसन्नता के प्रकर्ष से खिल गया और उन्होंने फिर सादर भ्रमर से बातचीत करना शुरू किया ।

(१) भ्रमरपक्ष । (क) हे भ्रमर ! तुम अवश्य श्रीकृष्ण के प्रिय सखा हो । अन्यथा श्रीकृष्ण तुम्हीं को दुबारा हमारे पास नहीं भेजते । क्या तुम श्रीकृष्ण के प्रति हमारे आक्षेप-प्रत्याक्षेपों से उकताकर तुम चले गए थे ? क्या तुम वापिस हमारे पास श्रीकृष्ण के द्वारा भेजे हुए आए हो ? अथवा क्या हमारे आक्षेपों की उपेक्षा करके अपनी निजसौम्यता के कारण यही सोचकर वापिस आए हो कि श्रीकृष्ण के सन्देश का उत्तर लेकर ही जाओगे । दोनों स्थिति में तुम हमारे लिए माननीय हो । हम तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हैं । तुम्हें वरदान देना चाहती हैं । तुम तो सज्जनशिरोमणि हो । तुम जो चाहो एक वर माँग लो ।

(ख) यदि कहें कि अच्छा मैं तो यही वर माँगता हूँ कि मेरे प्रिय सखा श्रीकृष्ण के साथ तुम्हारा पुनः संगम हो जाय । मेरा सखा तथा स्वामी श्रीकृष्ण का प्रिय ही मेरा प्रिय है । उनका सुख ही मेरा सुख है । तत्सुखसुखित्व ही मेरा मनोरथ है। मैं तो तुम्हें अपने साथ ही ले जाकर मथुरा में श्रीकृष्ण से मिला देना चाहता हूँ । केवल तुम्हारे आक्षेप-वचनों से ही मैंने अब तक यह बात नहीं कही थी । तुम तो सर्वज्ञ हो । मेरे मनोभाव पढ़कर ही तुमने मुझे वर माँगने को कहा है । अतः मैं तो यही वरदान माँगता हूँ कि शीघ्रातिशीघ्र मेरे साथ ही मथुरा चलो । इस पर राधारानी का कहना

है कि यदि तुम हमें लेने आए हो तो कैसे ले जाओगे। तुम तो कोई भी साधन-सामग्री नहीं लाए। न तो तुम्हारे साथ रथ हैं, न पालकियाँ हैं। हम तो यहाँ अनेक-अनेक हैं। हमारे तो शतकोटि यूथ हैं। तुम अकेले हो। हमें कैसे अपने साथ ले जाओगे ?

(ग) इतने पर ही वहाँ जाने में दो कठिनाइयाँ नजर आती हैं।

(१) पहली कठिनाई तो यह है कि श्रीकृष्ण के पास मधुपुरी की नागरियाँ द्वन्द्व-भाव से रहती हैं। यदि यह कहो कि श्रीकृष्ण उन सबको छोड़कर केवल हमारे साथ ही रहेंगे। तो राधारानी का आशय है कि उन नागरियों का हमें बिल्कुल भय नहीं है। वे बिचारी तो हमारी उपस्थिति से ही सहम कर अलग हट जावेंगी। वास्तविक कठिनता दूसरी ही है।

(२) दूसरी कठिनाई यह है कि भगवती श्रीदेवी निरन्तर श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर विराजमान रहती है। श्रीदेवी सर्वसमर्थ है। नाना रूपों को धारण करने में चतुर है। जब श्रीकृष्ण अन्यान्य नागरियों के साथ अथवा प्रिय सखाओं के साथ तथा पार्षद-भक्तों के साथ रमण करते हैं, तब भी श्रीदेवी श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर रेखा रूप से विलास करती है। जब श्रीकृष्ण अकेले रहते हैं, तब वे साक्षात् प्रकट होकर उनकी वधू के रूप से रमण करती है।

(घ) अथवा यदि तुम श्रीकृष्ण से हमें मिलाना ही चाहते हो तो तुम्हारा रचनात्मक प्रस्ताव क्या है ? क्या तुम हमें वहाँ ले जाओगे ? अथवा श्रीकृष्ण को यहाँ लाओगे ? प्रथम पक्ष में हम मानिनियों का वहाँ जाना ऊपर बताई हुई कठिनाई के कारण युक्तिसंगत नहीं है। द्वितीय पक्ष में वहाँ की नागरियों के दुस्त्यज द्वन्द्वभाव को छोड़कर श्रीकृष्ण का हमारे पास आना भी कठिन व्यापार प्रतीत होता है।

पद्य में 'प्रतिजल्प' का वर्णन है। प्रतिजल्प उसे कहते हैं जहाँ दुस्त्यज द्वन्द्वभाव की प्राप्ति नहीं होती और दूत के प्रति सम्मान से कही हुई अनुद्धत उक्ति रहती है।

'दुस्त्यजद्वन्द्वभावस्य प्राप्तिर्नाहत्यनुद्धतम्।
दूतसम्माननेनोक्तं यत्र स प्रतिजल्पकः॥'

(२) **उद्धवपक्ष**। उद्धव भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति आक्षेपों को सुनकर वहाँ से उठकर अन्यत्र चले गए। उनके जाते ही राधारानी मूर्छित हो गई। उनकी मूर्च्छा का समाचार सुनते ही उद्धव तत्काल वापिस लौट आए। श्रीकृष्ण के प्रति उलाहनों से उद्धव को खिन्न जानकर उन्हें आश्वस्त करने की दृष्टि से राधारानी कहने लगी। तुम मन खिन्न न करो। श्रीकृष्ण की उपस्थिति में तो हम श्रीकृष्ण को इससे बहुत ज्यादा आड़े हाथों लेती। स्वयं श्रीकृष्ण भी हमारे आक्षेपों का परिहार-उत्तर नहीं दे सकते। तुम्हारे से तो हम बहुत प्रसन्न हैं। क्योंकि तुम स्वयं ही हमारे पास आए हो। पहले हमने भ्रम से यह समझ लिया था कि तुम नन्द बाबा तथा यशोदा मैया के ही पास कृष्ण-सन्देश लेकर आए हो। किन्तु अब हमारा भ्रम दूर हो गया है। हम अच्छी

तरह जान चुकी हैं कि तुम हमारा ही प्रिय करने की इच्छा से यहाँ आए हो। इसलिए तुमको एक वरदान देती हैं। जो चाहो माँग लो।

(३) श्रुतिपक्ष। हे जीवात्मा! श्रीकृष्ण से विमुख होने के कारण ही तुम जन्म-जन्मान्तर से अपने कृतकर्मों का फलभोग करने के लिए संसार चक्र में चक्कर लगा रहे हो। तुम परब्रह्म श्रीकृष्ण के सखा हो। ईश्वर-कृष्ण से प्रेरित होकर ही संसारचक्र में फँस गए हो। अतः उसी अपने श्रीकृष्ण-सखा की सर्वात्मना भाववृद्धि के साथ शरण ले लो। उसकी शरण ही मोक्षदायिनी है। तुम सांसारिक त्रिविध तापों से संतप्त हो। इससे ज्यादा क्या चाहते हो। जब तुम इस प्रकार अनन्य भाव से श्रीकृष्ण की शरण का वरण कर लोगे और श्रीकृष्ण की आराधना-भक्ति में लग जावोगे, तो हमारे परम मान के पात्र वनोगे। यह भी याद रखना कि अधिकारी-सम्पत्ति के बिना कुछ प्राप्त नहीं कर सकोगे। अर्थात् नित्यानित्य वस्तु का विचार, इस लोक तथा परलोक में फलभोग के प्रति वैराग्य, शम दम आदि का अभ्यास, और मोक्षप्राप्ति की प्रबल आकांक्षा। इन चारों साधनों का अभ्यास करने से ही तुमको फलप्राप्ति की योग्यता मिलेगी। तुम तभी अधिकारी वनोगे। फिर तुम्हें सब प्रकार के भोग तथा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होगी। तुम यह भी समझलो कि तत्त्वज्ञान ही मोक्षप्राप्ति का अन्तरंग साधन है। भगवान् की भक्ति से ही भगवान् की कृपा प्राप्त करना सम्भव है। अन्यथा निजस्वरूपभूत परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण में समन्वित हम श्रुतियों के प्रति अपना दुस्त्यज द्वन्द्वभाव तुम कैसे लगा सकोगे? शुद्ध तथा एकाग्रचित्त होने पर ही तुम ब्रह्म-साक्षात्कार कर सकते हो। जो जीवात्मा निष्काम भाव से कर्म-क्रिया नहीं करता, जो जीवात्मा भगवान् कृष्ण के ध्यान में अन्तर्वपु से अपना चित्त नहीं लगाता, और जिस जीवात्मा का चित्त मोह, अविद्या, अज्ञान, अहंकार तथा कुतर्क में फँसा रहता है। उसके द्वारा किए गए साधन-चतुष्टय रूपी वेदान्तशास्त्र के विचार भी निरर्थक हो जाते हैं। समस्त प्रकार के भोगों की इच्छा करने वाले व्यक्ति भी जिस श्रीदेवी की उपासना करते हैं, वही श्रीदेवी परब्रह्म श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर निरन्तर सुखपूर्वक निवास करती है। वस्तुतः भगवान् की कृपा के बिना श्रीदेवी की कृपा नहीं होती और श्रीदेवी की कृपा के बिना भोगप्राप्ति नहीं होती। इसलिए जो भोग तथा मोक्ष दोनों चाहते हैं, उन्हें शुद्धभाव से प्रतिक्षण श्रीदेवी-समन्वित भगवान् वासुदेव-श्रीकृष्ण की स्मरण आराधना करनी चाहिए।

(२१)

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य! बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि च कथां नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥

हे सौम्य ! क्या आर्यपुत्र (श्रीकृष्ण) आजकल मधुपुरी (मथुरा) में हैं ? क्या पिता (नन्द बाबा) के घर के साथ बन्धुओं तथा गोपों का भी स्मरण करते हैं ? क्या कभी-कभी हम किंकरियों की भी कथा कहते हैं ? कब वे अगरु (कृष्ण-धूप) से सुगन्धित अपनी भुजा को हमारे मस्तक पर रखेंगे ?

अब तक राधारानी के मन में यह विश्वास उत्पन्न हो चला था कि उद्धव सब व्रजांगनाओं को मथुरा ले जावेंगे। यही सोचकर उन्होंने प्रस्तुत पद्य में चार प्रश्न किए हैं।

(१) **भ्रमरपक्ष**। (क) हे भ्रमर ! हमने तो यह सुना था कि श्रीकृष्ण और बलराम उपनयन संस्कार के बाद सान्दीपिनी गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए चले गए हैं। क्या वे वहाँ से लौट आए हैं ? क्या आर्य वसुदेव अथवा आर्य नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण आजकल मथुरा में हैं ? हमें तो यह पता ही नहीं था। हमने तो सुना था कि मधुपुरी आकर वे फिर कहीं अन्यत्र चले गए हैं। यहाँ यह व्यंग्य ध्वनि है कि यदि मधुपुरी में ही श्रीकृष्ण हैं तो इतने पास होने पर भी वे हमारे पास स्वयं क्यों नहीं आए ? सन्देशवाहक दूत क्यों भेजा ? वे कब से वहाँ हैं ? कब तक रहेंगे ? क्या अब श्रीकृष्ण ने नन्दनन्दनत्व छोड़कर वसुदेवनन्दनत्व ग्रहण कर लिया है ? अथवा श्रीकृष्ण ने यहीं से नन्दनन्दनत्व छोड़कर वसुदेवनन्दनत्व के रूप में ही मधुपुरी के लिए प्रस्थान किया था। कहीं ऐसा तो नहीं है कि अब उन्होंने किसी तीसरे पिता का नन्दनत्व स्वीकार करके कहीं अन्यत्र प्रस्थान कर लिया हो। अथवा श्रीकृष्ण का मधुपुरी जाकर कंस का वध करने का प्रयोजन तो पूरा हो चुका है। अब वे वहाँ क्या कर रहे हैं ? यहाँ क्यों नहीं आए ? कब आवेंगे ?

(ख) क्या श्रीकृष्ण अपने पिता श्रीव्रजराज के घर का भी कभी स्मरण करते हैं ? क्या अपने बन्धुओं तथा गोप-सखाओं को भी याद करते हैं ? नन्द बाबा तो व्रज-राज हैं। उन्होंने यही सोचा होगा कि श्रीकृष्ण शीघ्र ही लौट आवेंगे। वे तो इसी आशा में रोज वाट जोह रहे हैं। अन्यथा यशोदा मैया अवश्य मधुपुरी चली जाती और उनके साथ-साथ हम भी वहाँ चली जातीं। क्या श्रीकृष्ण अपने उपनन्द आदि बन्धुओं को और श्रीदामा आदि गोप-सखाओं को भी कभी याद करते हैं ? पिता के घर जैसी बाल-क्रीड़ाएँ, स्वतन्त्रताएँ, बन्धुओं तथा सखाओं के साथ की गई क्रीड़ाएँ तथा हास-उपहास क्या श्रीकृष्ण को यहाँ की स्मृति नहीं दिलाते ?

(ग) क्या श्रीकृष्ण किसी देश या काल में, हँसी-मजाक या वार्तालाप के संदर्भ में हम किंकरियों की कथा-चर्चा भी करते हैं ? हमने तो हमेशा किंकरी-भाव से ही श्रीकृष्ण की उपासना की है। हमारे जैसा किंकरी भाव मधुपुरी की नागरियों में तो क्या, त्रिभुवन की किसी भी स्त्री में दुर्लभ है। इसलिए मधुपुरी-नागरियों की सामान्य सेवा से उदासीन होकर क्या श्रीकृष्ण कभी हमारे किंकरीभाव की प्रशंसा की चर्चा चलाते हैं ?

(घ) श्रीकृष्ण का मन वहाँ कैसे लगता होगा ? सखाओं, बन्धुओं तथा हमारे

जैसी किंकरियों के साथ की गई लीलाओं में उनका मन अवश्य फँसा रहता होगा। हम लोगों द्वारा समर्पित वनमालाएँ, ताम्बूलवीटी, नृत्य-गीत, चतुर प्रश्न-उत्तर तथा रासलीला के लोकोत्तर अन्तरंग विलास-प्रसंग श्रीकृष्ण के मन को मधुपुरी की ऐश्वर्य-प्रधान नागरियों के दिखावटी हाव-भाव में कभी भी नहीं रमने देंगे। श्रीकृष्ण तो हमें यह कहकर गए थे कि कल परसूं ही आ जाऊँगा। किन्तु अब तक कोई सुध ही नहीं ली। अब कब श्रीकृष्ण यहाँ आवेंगे? और कब हमारे मस्तक पर अपना धूप से लिम्पित-सुगन्धित भुजारविन्द स्थापित करके हमें आश्वस्त करेंगे? और यह कहेंगे कि तुम ही मेरी प्राणप्रिया हो। तुम ही मेरी प्राणेश्वरी हो। तुम्हारे प्रेम जैसे प्रेम के गन्ध का लेशमात्र भी त्रिभुवन में कहीं भी असम्भव है। अब मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। पहले भी श्रीकृष्ण एक बार रासलीला के प्रसंग में हमें छोड़कर अन्तर्हित हो गए थे। क्योंकि हमें अपने अद्वितीय श्रीकृष्ण की सन्निधि के सौभाग्य का अहंकार हो गया था। किन्तु जैसे ही हमने अपना अहंकार-भाव छोड़ा और पूर्ण शरणागति-भाव से हम सब मिलकर रोने लगीं, तो श्रीकृष्ण तत्काल हमारे बीच में प्रकट हो गए थे। अतः अब हमारा विश्वास है कि श्रीकृष्ण शीघ्र ही हमारे बीच आ जावेंगे।

इस पद्य में 'सुजल्प' का गुम्फन है। सुजल्प उसे कहते हैं जहाँ सरल भाव से गम्भीरता, दीनता, चपलता तथा उत्कण्ठा के साथ प्रश्न किए जायें।

'यत्रार्जवात् सगाम्भीर्यं सदैन्यं सहचापलम्।
सोत्कण्ठं च हरिः पृष्ठः स सुजल्पो निगद्यते॥'

(२) **उद्धवपक्ष**। इस पक्ष में प्रथम पक्ष के समान ही अर्थ समझना चाहिए।

(३) **श्रुतिपक्ष**। हे जीवात्मा! तुम अपने निजस्वरूप परमात्मा के अनुसन्धान को भूल गए हो। तुम देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि में ही आत्मबुद्धि करके अहंता तथा ममता के अभिमान को करे बैठे हो। वेदान्तशास्त्र में जीव को कार्य की उपाधि के रूप में और ईश्वर को कारण की उपाधि के रूप में माना गया है। इसमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। जैसे भगवद्गीता में, 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः', 'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय', 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा आर्य अर्थात् परमात्मा का ही पुत्र या अंश है। फिर भी अज्ञान तथा अविद्या के अन्धकार के कारण मधुपुरी में रहता है। मधुपुरी का अर्थ यहाँ नौ द्वार की नगरी अर्थात् देह है। इसी देह-नगरी को मधु के कण के समान विषय-वासना के सुख के आभास-रस की टोकरी भी कहा जाता है। अज्ञानावस्था में जीवात्मा 'देह ही मैं हूँ अर्थात् आत्मा हूँ' इस देह-तादात्म्य के अध्यास से देहरूप ही होकर रहता है। अधिकार-सम्पन्न देह पाकर भी देहादि में तादात्म्य के अध्यास को नहीं छोड़ पाता। आर्य अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के पुत्र रूप से अशांशिभाव सम्बन्ध के कारण परमात्म-स्वरूप होता हुआ भी देह-परिच्छेद के अज्ञान में फँसा रहता है।

अतः हे जीवात्मा! क्या तुम कभी परमात्मा द्वारा विरचित गेहों अर्थात् भूः, भुवः, स्वः आदि लोकों का भी स्मरण करते हो? तुम तो अपने बन्धुओं, स्त्री-पुत्रादि,

तथा गोपों अर्थात् विषय-वासना के भोग के लिए इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं के स्मरण में ही फँसे रहते हो। निजस्वरूपभूत परमात्मा का कभी भी अनुसन्धान नहीं करते। यदि ज्ञान दशा की दृष्टि से विचार करें तो तुम यह कह सकते हो कि तुम तो देहादि से विलक्षण जीवात्मा हो। अपनी कर्मगति के अनुसार ही स्वतः लोक-लोकान्तरों में भोगफल को प्राप्त करोगे। तो श्रुतियों का कथन है कि इस ज्ञानदशा में भी तुम हमारी 'स्वर्गकामो यजेत' आदि श्रुतियों की चर्चा मन में ही रखते हो। हमारी चर्चा नहीं करते। कब तुम अगरु-सुगन्ध के समान साधनचतुष्टय की सम्पत्ति से सम्पन्न अपनी भुजारूपी अन्तःकरण को हम श्रुतियों के मस्तक पर रखोगे ? हे सौम्य ! हमारे इस उपदेश को हृदय में धारण करो। देहादि के अभिमान को छोड़ दो। भगवान् की नित्य सेवा में अपना मन लगा दो और अपना पर-कल्याण प्राप्त करो।

(२२)

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः।
सान्त्वयन् प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत ॥

श्रीशुकदेव बोले—

इस प्रकार सुनकर उद्धव ने श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा वाली गोपियों को प्रिय (श्रीकृष्ण) के सन्देशों से सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहना शुरू किया।

गोपियाँ श्रीकृष्ण के विरह में व्याकुल थीं। वे लोकोत्तर प्रेम की साकार मूर्त्तियाँ थीं। श्रीकृष्ण के प्रति उनके प्रणय-कोप से भरे हुए उपालम्भों को सुनकर उद्धव अत्यन्त विह्वल हो गए और उन्हें आश्वासन देते हुए कहने लगे।

उद्धव श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त तथा प्रिय अनुचर थे। भगवान् के प्रिय अनुचर की भगवान् की प्रिय गोपियों को आश्वासन देने की प्रवृत्ति सर्वथा युक्तियुक्त थी। यदि यह कहें कि यदि गोपियों के मन में भगवद्दर्शन की लालसा अत्यन्त वलवती थी तो उन्होंने मथुरा जाकर श्रीकृष्ण का साक्षात्कार क्यों नहीं कर लिया। इसके दो समाधान प्रस्तुत पद्य में गोपी शब्द से दिए गए हैं :

(क) पहला समाधान है कि गोपियाँ तो अपने पिता, पति तथा बन्धु-बान्धवों के अधीन थीं। उनकी अनुमति के बिना अन्यत्र कहीं भी आने-जाने में समर्थ नहीं थीं।

(ख) दूसरा समाधान है कि गोपियों की तो गोपिकामोहन गोपालकृष्ण के दर्शन की लालसा थी। वे तो मधुर-भक्ति की साधिकाएँ थीं। मथुरापति अथवा द्वारकापति अथवा यादवपति श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य-सम्पन्न स्वरूप-दर्शन की इच्छा उनके मन में नहीं थी।

ऐसी कृष्णप्रिया गोपियों को उद्धव ने उन्हीं के प्रिय श्रीकृष्ण के सन्देश-वचनों से आश्वासन देना प्रारम्भ किया, अपनी वाणी की चतुरता से नहीं।

(२३)

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥

उद्धव बोले—

जिनका मन वासुदेव-श्रीकृष्ण में इस प्रकार समर्पित है, ऐसी तुम सब तो कृतार्थ हो चुकी हो और समस्त लोकों द्वारा पूजित हो ।

यहाँ श्रीकृष्ण के लिए दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है : (१) वासुदेव । (२) भगवान् । वासुदेव शब्द से श्रीकृष्ण की सर्वव्यापकता व्यक्त होती है । 'वासु' का अर्थ है जिसमें समस्त प्राणी निवास करें अथवा जो समस्त प्राणियों में निवास करे । भगवान् शब्द से श्रीकृष्ण की षडैश्वर्यसम्पन्न भगवत्ता प्रकट होती है । ऐसे सर्वात्मभूत परब्रह्म भगवान् वासुदेव-श्रीकृष्ण में जिनका मन पूर्ण रूप से अर्पित है, वे सर्वथा धन्य हैं, पूर्णकाम हैं, कृतार्थ हैं । परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेने के बाद अन्य कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता । इसीलिए ये गोपियाँ बड़े-बड़े योगीश्वर, मुनीश्वर, महात्माओं तथा विद्वानों द्वारा पूजी जाती हैं । यहाँ गोपियों के प्रति उद्धव का यही तात्पर्य है कि तुम्हारा मन तो अत्यन्त पवित्र तथा परिनिष्ठित है । श्रीकृष्ण के चरण-कमल के चिन्तन में सदा तल्लीन है । तुम स्वयं को उनके विरह से दुःखी मत करो ।

(२४)

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥

दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय तथा संयम से, और अन्यान्य विविध श्रेयःसाधनों से भगवान् श्रीकृष्ण में निश्चित रूप से भक्ति उत्पन्न की जाती है ।

श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति उत्पन्न करने के यहाँ निम्नलिखित आठ साधन बताए हैं :

(१) दान । पहला साधन दान है । सभी मनुष्यों को भगवान् का स्वरूप समझते हुए दान देते रहना चाहिए । इससे द्रव्य दोष नष्ट हो जाता है । चित्त-शुद्धि होती है । लोभ-वृत्ति नष्ट होती है । धन का तथा ममता का अहंकार नहीं रहता । लोभ व अहंकार ही भक्ति के प्रधान प्रतिबन्धक हैं ।

(२) व्रत । दूसरा साधन व्रत है । वैष्णव व्रतों का यथापर्व यथाशक्ति पालन करते रहना चाहिए । जैसे जन्माष्टमी, एकादशी आदि व्रत । इससे अन्न दोष नष्ट होता है और चित्त-शुद्धि होती है ।

(३) तप । तीसरा साधन तप है । तप के दो अर्थ हैं : (क) श्रीकृष्ण के चरणों का रात-दिन चिन्तन करते रहना । (ख) कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत का पालन करना ।

तप से इस जन्म के तथा जन्म-जन्मान्तर के ज्ञाताज्ञात पाप तथा पाप के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। इन संस्कारों के बीज ही चित्त-शुद्धि में प्रतिबन्धक होते हैं, जो भक्ति को नहीं पनपने देते।

(४) **होम**। चौथा साधन होम है। अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार वैदिक विधि से नित्य हवन करना। जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण के लिए नित्य अग्निहोत्र करना। इससे मन, वचन तथा शरीर तीनों शुद्ध हो जाते हैं। ब्रह्मवर्चस्व बढ़ता है और भक्ति गहरी होती है।

(५) **जप**। पाँचवाँ साधन जप है। प्रणव अथवा वैष्णव बीजमन्त्र अथवा गायत्रीमन्त्र अथवा गुरुप्रदत्त मूलमन्त्र का नित्य जप करना। मन्त्र के मानसिक जप के साथ-साथ मन्त्र, मन्त्रार्थ, मन्त्रेश्वर तथा मन्त्रस्वरूप चारों की एकाकारता होने पर मन्त्रसिद्धि होती है। मन्त्रजप से चित्त शुद्ध होकर अपनी मूल प्रकृति में जाने लगता है और अन्तर्जगत् के रहस्य द्वार खुलने लग जाते हैं। मन्त्र-जप को भक्ति की उत्पत्ति तथा वृद्धि में महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। भक्त को गुरु, मन्त्र, मन्त्रेश्वर तथा इष्टदेवता में भेददृष्टि नहीं रखनी चाहिए। जप से मध्यमा वाणी में प्रवेश हो जाता है और परा का द्वार भी खुल जाता है। मन्त्र जप के लिए मन्त्रशास्त्री गुरु के मार्ग-निर्देशन की बहुत आवश्यकता रहती है।

(६) **स्वाध्याय**। छठा साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय से कीर्तन का भी ग्रहण हो जाता है। स्वाध्याय का अर्थ है नित्य वेदपाठ तथा वेदाध्ययन करना। श्रीमद्भागवत आदि महापुराण तथा गुरुनिर्दिष्ट स्तोत्र अथवा धार्मिक पुस्तकों का पाठ भी स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय अथवा कीर्तन से वैखरी वाणी का संयम होता है और भक्ति का द्वार खुलता है।

(७) **संयम**। सातवाँ साधन संयम है। संयम का पारिभाषिक अर्थ है पतंजलि के अष्टांग योग के धारणा, ध्यान तथा समाधि तीनों को एक साथ मिला देना। पातंजल योग की प्रधानता ईश्वर प्रणिधान में मानी गई है। प्रणिधान का अर्थ है अपने समस्त कर्मों को ईश्वर में अर्पण कर देना अथवा ईश्वर में पुनः-पुनः चित्त की भावना करना। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि योग और भक्ति आपस में मिले रहते हैं। संयम तक पहुँचने वाला भक्त-योगी सिद्ध पुरुष होता है। अनेक सिद्धियाँ उसके पास 'पहले मैं', 'पहले मैं' कहती हुई प्रकट हो जाती हैं। संयम का दूसरा अर्थ है मन, वचन, इन्द्रिय तथा शरीर का सावधानी से निरोध करना। ब्रह्मचर्य इसमें खूब सहायक बनता है। मितभाषिता से असत्य का निग्रह, सत्य भाषण से वाणी का निग्रह, भगवद्भक्ति से मन का निग्रह और ब्रह्मचर्य से शरीर तथा इन्द्रियों का निग्रह होता है। यही संयम भक्ति का मूल बनता है।

(८) **आठवाँ साधन**। इस साधन से अन्यान्य अनेक शुभकर्मों का संग्रह किया जा सकता है। इन शुभकर्मों के नाम निर्देश श्रीमद्भागवत के भ्रमरगीत में नहीं मिलते। किन्तु परमार्थ के लिए बनाए हुए शिक्षासंस्थान, औषधालय, धर्मशालाएँ तथा उत्तम

ग्रन्थ प्रकाशन आदि कर्मों का यहाँ संग्रह किया जा सकता है। इससे भक्ति उत्पन्न होती है। अन्तिम साधन गौण साधन माना गया है क्योंकि इस साधन में अहंकार बढ़ने की सम्भावना रहती है।

इन आठों साधनों का फल भक्ति है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि गोपियों ने श्रीकृष्ण से केवल प्रेम किया था। इन आठों साधनों में से किसी भी साधन का पालन नहीं किया था। वे तो ग्राम्य थीं। फिर भी वे सर्वलोकपूज्य तथा कृतार्थ भक्त कैसे मानी गईं। यहाँ उद्धव का उत्तर है कि गोपियाँ तो साक्षात् श्रुतियाँ थीं। उन्होंने बड़ी श्रद्धा से अनेक जन्मों में इन साधनों का पालन किया था। इसीलिए उनमें लोकोत्तर प्रीतिमयी रागानुगा भक्ति थी।

(२५)

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥

(हे गोपियो!) उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण में तुम सबने ऐसी अनुत्तम (श्रेष्ठ) भक्ति की है जो मुनियों को भी दुर्लभ है। यह बड़े भाग्य की बात है। तुम सब बधाई की पात्र हो।

यहाँ श्रीकृष्ण के लिए (१) उत्तमश्लोक (२) भगवान्, ये दो विशेषण दिए गए हैं। उत्तमश्लोक का अर्थ है जिसकी नारदादि मुनियों जैसे उत्तम पुरुष की स्तुति करते रहते हैं। यहाँ गोपियों के प्रति यह ध्वनि-व्यंग्य है कि ऐसे उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण की तुम उपालम्भ वाक्यों से निन्दा कर रही हो। श्रीकृष्ण तो तुम सब में परम प्रीतिमान् हैं। वस्तुतः तुम्हारे उपालम्भ मिथ्या हैं। फिर तुमने तो श्रीकृष्ण की ऐसी अनुपम भक्ति की है जो बड़े-बड़े मुनि भी समस्त भक्ति के साधनों से नहीं कर सकते। दूसरे विशेषण 'भगवान्' से श्रीकृष्ण की भगवत्ता प्रकट की गई है।

भक्ति के अनेक लक्षण हमारे शास्त्रों में प्राप्त होते हैं।[1] एक लक्षण यह है, 'उपायपूर्वकं भगवति मनःस्थिरीकरणं भक्तिः'। इसका अर्थ है उपाय के साथ भगवान् में मन को स्थिर करना ही भक्ति है। श्रीमद्भागवत में भक्ति के दो प्रधान भेद माने गए हैं : (क) विहिता (ख) अविहिता। विहिता भक्ति मिश्रा तथा शुद्धा भेद से दो प्रकार की होती है। अविहिता भक्ति कामजा, द्वेषजा, भयजा तथा स्नेहजा भेदों से चार प्रकार की है। गोपियों की भक्ति को कामजा, शिशुपाल की भक्ति को द्वेषजा, कंस की भक्ति को भयजा और पाण्डवों की भक्ति को स्नेहजा भक्ति का उदाहरण माना गया है। इन सबसे अनुत्तम भक्ति उद्धव ने गोपियों की कामजा भक्ति ही मानी है। इसका यही कारण प्रतीत होता है कि भक्ति से दूसरे भेदों में मन की स्थिरता इतनी

---

१ देखिए, श्रीमती राधारानी सुखवाल, 'वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' १९८०, पृष्ठ १४३-१४६।

दृढ़ नहीं हो पाती जितनी कामजा भक्ति में होती है। कामजा अविहिता होने से कहीं निकृष्ट न मान ली जावे, इसीलिए उद्धव ने उसे अनुत्तमा कहकर गोपियों को बधाई दी है।

(२६)

दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च।
हित्वावृणीत यूयं तु कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥

तुम सबने तो अपने पुत्रों, पतियों, शरीरों, स्वजनों तथा घरों को छोड़कर श्रीकृष्ण नामक परमपुरुष (परमात्मा) का वरण किया है। अतः हार्दिक बधाई है।

भगवत्प्राप्ति में पाँच प्रकार की आसक्ति को प्रतिबन्धक माना जाता है :

(१) पुत्रासक्ति।
(२) पत्यासक्ति।
(३) देहासक्ति।
(४) स्वजनासक्ति।
(५) गृहासक्ति।

स्त्रियों के लिए इन आसक्तियों का, विशेष रूप से पुत्रासक्ति का त्याग करना अत्यन्त कठिन होता है। गोपियों का अनासक्ति योग का अभ्यास सिद्ध हो गया था। उनके मन में किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं बची थी। उन्होंने श्रीकृष्ण का परब्रह्म परमात्मा के रूप से वरण कर लिया था। पुत्रों, पतियों, शरीरों, स्वजनों तथा घरों की देखभाल करना तो उनका अनासक्तिपूर्ण लौकिक वाह्य व्यापारमात्र था। इस व्यापार में गृहस्थ का कर्तव्य ही मूल में था। इस प्रकार से गोपियों की आसक्ति इन पाँचों आसक्तियों में अनासक्तिमूलक आसक्ति थी। केवल श्रीकृष्ण के प्रति ही उनके मन में वास्तविक आसक्ति थी। इसी आसक्ति को श्रीकृष्णविषयिणी रति कहते हैं। जिसको प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े महात्मा, मुनि, योगी तथा भक्त लालायित रहते हैं।

(२७)

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागाः! महान्मेऽनुग्रहः कृतः॥

हे महाभाग्यवती गोपियो! तुम सबका अधोक्षज-श्रीकृष्ण में श्रीकृष्ण-विरह से सर्वात्मना 'भाव' सिद्ध हो गया है। मुझ पर भी तुमने महान् अनुग्रह किया है।

(१) सर्वात्मभाव। इस पद के दो अर्थ हैं :

(क) एकान्त भक्ति। (ख) आत्मा का सम्पूर्ण भाव। अर्थात् परम प्रीति। गोपियों ने किसी भी भक्ति के साधन का आचरण नहीं किया था। केवल भगवद्विरह से ही उनमें ऐसी दिव्य भक्ति का भाव प्रकट हो गया था। यह भाव उनका सहज भाव बन गया था और प्रतिक्षण अधिकाधिक प्रतिष्ठित होता हुआ सिद्ध हो गया था। यदि

यह कहा जाय कि भक्ति तथा भक्ति के साधनों में तो कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। फिर यहाँ गोपियों में भक्ति के साधनरूपी कारण के बिना भक्ति रूपी कार्य की उत्पत्ति कैसे हो गई। तो इसका उत्तर है कि गोपियों ने अपने पूर्वजन्मों में इस सब साधनों का यथाविधि अनुष्ठान किया था। पूर्वजन्म के बलवान् साधनानुष्ठान से उत्पन्न पुण्य से इस जन्म में साधन के बिना भी उनमें ऐसी लोकोत्तर भक्ति सिद्ध हो गई थी।

(२) **अधोक्षज-श्रीकृष्ण**। यहाँ श्रीकृष्ण को अधोक्षज कहा है। अधोक्षज का अर्थ है जिसने इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अधःकृत कर दिया है। अर्थात् जो इन्द्रियातीत अतीन्द्रिय ज्ञान सम्पन्न है।[1] इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही वृत्तिजन्य ज्ञान भी कहते हैं। वेदान्तशास्त्र के अनुसार परमात्मा का साक्षात्कार वृत्तिजन्य नहीं माना जाता, क्योंकि परमात्मा तो वृत्ति से अगोचर है। वाणी तथा मन से अगोचर है। इसीलिए 'अवाङ्मनसगोचर' कहलाता है। गोपियों ने भगवान् के विरह में वृत्यगोचर भगवत्साक्षात्कार की प्रक्रिया को जान लिया था। इसीलिए उद्धव ने कहा है कि तुमने ऐसी अनोखी भावविधि मुझे समझाकर मुझ पर बड़ी कृपा की है।

(२८)

श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः।
यमादायाऽऽगतो भद्राः! अहं भर्तू रहस्करः॥

हे कल्याणियो! अब तुम्हें सुख देने वाले प्रियसन्देश को सुनो। जिसे लेकर मैं यहाँ आया हूँ। मैं तो मेरे स्वामी श्रीकृष्ण का रहस्यकार्य करने वाला (अनुचर) हूँ।

उद्धव के इस प्रशंसात्मक प्रारम्भिक वार्तालाप से गोपियों को प्रसन्नता नहीं हुई। वे तो अपने प्रियतम श्रीकृष्ण का सन्देश सुनने को उत्कण्ठित थीं। अतः उद्धव ने भगवान् के भक्तिमूलक तत्त्वज्ञानात्मक सन्देश को सुनाना शुरू किया। श्रीकृष्ण का यह सन्देश उपदेशात्मक था। गोपियों के परकल्याण के लिए था। जब कोई अपना प्रिय हितैषी उपदेश करता है, तो वह कर्तव्य बन जाता है। गोपियों को तो बिना किसी साधन-अनुष्ठान के ही समस्त भक्ति-साधनों का फल 'परम प्रेम' पहले ही प्राप्त हो चुका था। अतः उनके लिए श्रीकृष्ण का सन्देश अत्यन्त प्रिय तथा सुखोत्पादक था। इसी आशय से उद्धव ने आरम्भ किया कि यह सन्देश श्रीकृष्ण का सन्देश है। मैं तो केवल सन्देशवाहक हूँ। श्रीकृष्ण का विश्वासपात्र प्रिय अनुचर हूँ। श्रीकृष्ण-रहस्य के कार्य का सम्पादक हूँ। श्रीकृष्ण का यह सन्देश तत्त्वज्ञानात्मक है। ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित है। ब्रह्मविद्या को ही उपनिषद्विद्या या रहस्यविद्या भी कहते हैं। इसलिए इस रहस्यसन्देश में रहस्य मैं सुनाना चाहता हूँ। मैं तो केवल तुम गोपियों का प्रिय करने की इच्छा से ही यहाँ भेजा गया हूँ। सबसे पहले नन्द बाबा के यहाँ जाने का भी यही प्रयोजन था कि तुम्हारे साथ मेरी यह सन्देशवार्ता रहस्य बनी रहे। क्योंकि इस 'रहस्यविद्या' के सब अधिकारी नहीं हैं।

---

१ देखिए. डॉ. रसिकविहारी जोशी, 'रासपंचाध्यायी सांस्कृतिक अध्ययन', पृष्ठ ५९।

(२९)

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् ।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ॥

श्रीभगवान् बोले—

तुम सबके साथ मेरा सर्वात्मना वियोग कभी भी नहीं है। जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंच महाभूत समस्त भूतों में (हमेशा रहते) हैं।

(क) यहाँ 'भगवद्वियोग' का विशेषण 'सर्वात्मना' पद दिया गया है। यह हेतु-गर्भित है। इसमें 'आत्मन्' पद अर्थ उपादान कारण है। इसका यह तात्पर्य है कि उपादानकारण के रूप से श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ पारमार्थिक अनन्यतारूपक अभेद है। उपादानकारण का अभिव्यक्त कार्यसमुदाय के साथ कभी भी वियोग नहीं हो सकता। कार्य का केवल व्यतिरेक रूप से अभाव रहता है। इसीलिए उपनिषदों में जगह-जगह यह कहा गया है कि एक ही मृत्पिण्ड के ज्ञान से समस्त मृण्मय पदार्थों का विज्ञान हो जाता है। घड़ा तथा शिकोरा आदि वाणी के आरम्भणमात्र है। पारमार्थिक सत्य तो इन कार्यों का उपादान कारण मृत्तिका ही है। जिस प्रकार घटाकाश तथा मठाकाश आदि परिच्छिन्न आकाशों का महाकाश से पारमार्थिक भेद नहीं होता। परिच्छिन्न आकाशों की तरह परिच्छिन्न कार्यों की केवल व्यावहारिक सत्ता होती है। अथवा जिस प्रकार मृगमरीचिका के कार्यरूप प्रतीयमान जल का रेगिस्तान में सूर्य के प्रतिबिम्ब से भेद नहीं होता। उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण से समस्त भोग्य तथा भोक्ता आदि प्रपंच का भेद नहीं है। इसलिए मुझ श्रीकृष्ण का तुम गोपियों से 'सर्वात्मना' वियोग कदापि सम्भव नहीं है।

(ख) यदि यह कहा जाय कि साधारण रूप से हम व्यवहार करते हैं 'यह सोने के आभूषण हैं अथवा सोना है'। यह वृक्ष है अथवा ये इस वृक्ष की शाखाएँ हैं। इन प्रयोगों से यह प्रतीत होता है कि एकत्व तथा अनेकत्व दोनों ही व्यवहार घटित होते हैं। दोनों ही सापेक्ष रूप से सत्य हैं। अतः केवल सुवर्ण को, वृक्ष को या मृत्तिका को पारमार्थिक सत्य मानकर गोपियों के साथ नित्य संयोग की बात करना युक्तिसंगत नहीं है। तो इसका उत्तर है कि वास्तव में दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में प्रकृति की पारमार्थिक सत्यता दर्शनशास्त्र में मानी जाती है। इसी को स्पष्ट करने के लिए यहाँ एक दृष्टान्त दिया गया है कि जिस प्रकार पंच महाभूत समस्त चर-अचर में विद्यमान रहते हैं। पंचभूतों का कभी भी चर-अचर भूतों से वियोग नहीं हो सकता। उसी प्रकार उपादान कारणस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण का कार्यस्वरूपिणी गोपियों से कभी भी पारमार्थिक वियोग नहीं हो सकता।

(३०)

तथाहं च मनः प्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः ।
आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ।।

इस प्रकार मैं (श्रीकृष्ण) मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय तथा गुणों का आश्रय हूँ। मैं अपनी आत्मा की मायाशक्ति से भूत, इन्द्रिय तथा गुणरूप से अपनी आत्मा में ही अपनी आत्मा से आत्मा की सृष्टि करता हूँ, उसका पालन करता हूँ और उसको नष्ट करता हूँ।

इस पद्य का आशय है कि जिस प्रकार समस्त स्थावर तथा जंगम पदार्थों में पंच महाभूतों की ही अधिष्ठान रूप से पारमार्थिक सत्यता मानी जाती है। कार्यरूप पदार्थों को केवल वाणी का आरम्भण माना जाता है। नाम और रूप तो कल्पित, अपारमार्थिक तथा अयथार्थ हैं। उसी प्रकार समस्त प्राणियों के मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय तथा इनके कारण सत्त्व, रजस्, तमस् इन गुणों के अधिष्ठान रूप परम सत्य तथा यथार्थ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। मन, प्राण, बुद्धि तथा इन्द्रिय और त्रिगुण तो केवल कार्यभूत हैं। अतः नाम तथा रूप की कोटि में प्रविष्ट हैं।

यदि यह कहा जाय कार्य तथा कारण में तो पृथक्-पृथक् भेद व्यवहार होता है। कार्य की जगह कारण का प्रयोग नहीं होता और कारण से कार्य के व्यवहार-प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। जैसे मिट्टी के लोंदे से जलानयन तथा जलपान नहीं होता और मृत्पिण्ड को घड़ा नहीं कहते। फिर सबके कारणभूत श्रीकृष्ण को सर्वत्र अनुगत मानकर समस्त स्थावर तथा जंगम से अभिन्न तथा नित्य सम्बद्ध मानना कहाँ तक उचित है? इस शंका का समाधान इसके उत्तरार्ध में स्वयं श्रीकृष्ण ने दिया है कि जैसे वाणी के आरम्भण से घटित, नाम तथा रूप से विद्यमान समस्त विकार-कार्यों को मिथ्या माना जाता है। केवल उनकी प्रकृति ही सत्य मानी जाती है। विकृति का व्यवहार भ्रम पर आधारित है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण ही परम सत्य हैं। अन्यान्य आत्माओं की प्रतीति भ्रान्तिमात्र है। क्योंकि श्रीकृष्ण अपनी ही आत्मा से अपनी ही आत्मा में समस्त आत्माओं को अभिव्यक्त कर देते हैं। इस अभिव्यक्ति में श्रीकृष्ण की मायाशक्ति को अभिव्यंजक कारण माना गया है। श्रीकृष्ण की यह मायाशक्ति अनिर्वचनीय है। इसका अस्तित्व श्रीकृष्ण की आत्मा के ही स्वतः प्रकाश से है। इससे भिन्न कोई दूसरा कारण नहीं है। इस अनिर्वचनीय मायाशक्ति का अनिर्वचनीय परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। श्रीकृष्ण की जीवमाया से मोहित होकर ही जीव इस संसारचक्र में घूमते रहते हैं। वेदान्तशास्त्र में परब्रह्म को परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय माना गया है। इसीलिए प्रस्तुत सन्दर्भ में श्रीकृष्ण में ही कार्य तथा कारण इन दोनों परस्पर विरुद्ध धर्मों की चर्चा की गई है। श्रीकृष्ण ही समस्त चर-अचर के मूल अधिष्ठान हैं क्योंकि इन सबकी अभिव्यक्ति की स्फूर्ति श्रीकृष्ण से ही होती है।

इस अभिव्यक्ति के लिए श्रीकृष्ण अपने से भिन्न किसी भी अन्य कारण की सहायता नहीं लेते। श्रीकृष्ण ही भूत तथा इन्द्रिय आदि के रूप से कार्यरूप से प्रकट हो जाते हैं और त्रिगुणात्मक रूप से तत्तत्कार्यों की कारणता के भी अधिष्ठान बने रहते हैं। यदि कहें कि श्रीकृष्ण तो साक्षात् परब्रह्म हैं, असंग, निर्विकार तथा निर्लिप्त हैं। उनमें इन कार्य-विकृतियों की व्यावहारिक सत्ता कैसे प्रकट होती है। तो इसका उत्तर है कि इसका कारण श्रीकृष्ण से अभिन्न श्रीकृष्ण की ही अनिर्वचनीय मायाशक्ति है।

(३१)

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणाश्रयः।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मनोवृत्तिभिरीयते ॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। सर्वथा शुद्ध है। (देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार से) व्यतिरिक्त (भिन्न) है। गुणातीत है। (केवल) जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में मनोवृत्तियों से प्रतीत होता है।

(१) पद्य के पूर्वार्ध में आत्मा का लक्षण इस प्रकार समझाया है :

(क) आत्मा का स्वरूप लक्षण ज्ञान-स्वरूप होना है। यहाँ ज्ञान पद उपलक्षण है। ज्ञान पद से सत्, चित् तथा आनन्द तीनों का ग्रहण होता है। अतः आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है।

(ख) यह सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा सर्वथा शुद्ध है। अर्थात् परमार्थतः अविद्या की उपाधि से संस्पृष्ट नहीं है। अतः शुद्ध, निरंजन आत्मा को अज्ञान से उपहित चैतन्य मानना भ्रान्त है।

(ग) यह आत्मा सबसे भिन्न है। अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार से भिन्न है। इसके द्वारा चार्वाक आदि नास्तिकों के मत का खण्डन किया है।

(घ) यह आत्मा निर्गुण है। परमार्थतः गुणातीत है। गुणों की सम्बन्ध-प्रतीति कालिक है। कालिक होने से अपारमार्थिक है। वस्तुतः गुणों तथा गुणों के कार्यों का सम्बन्ध निर्गुण आत्मा में नहीं रहता।

(२) पद्य के उत्तरार्ध में आत्मा के तीन भेद बताए गए हैं।

यही एक आत्मा अन्तःकरण के धर्मों द्वारा तीन प्रकार का हो जाता है। जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ अन्तःकरण के धर्ममात्र हैं। इन अवस्थाओं के यथासंख्य सम्बन्ध से आत्मा विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ नाम से जाना जाता है। अथवा अन्तःकरण के इन धर्मों के कारण निर्गुण आत्मा गुणान्वित प्रतीत होता है। इस गुणान्वित प्रतीति का कारण अन्तःकरण के तादात्म्य का अभ्यास मात्र है। अथवा अन्तःकरण के इन धर्मों के कारण व्यतिरिक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। यदि यह कहें कि यदि इस प्रकार आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का ही विचार करेंगे, और मूल-एकता को ही यथार्थ मानेंगे, तो समस्त व्यावहारिक सत्ता ही नष्ट हो जावेगी क्योंकि

व्यवहार अनेकता में ही होता है। इस प्रकार मानने पर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द आदि प्रमाणों, तथा धर्मशास्त्रों के विधि तथा निषेध वाक्यों का उपयोग ही नष्ट हो जावेगा। तो इसका उत्तर है कि समस्त सांसारिक व्यावहारिक जगत् स्वप्न के व्यवहार के समान है। जैसे स्वप्न की बातें स्वप्न में सच्ची मालूम पड़ती हैं। स्वप्न में हाथ की अंगुली कट जाने पर भाग-दौड़ शुरू हो जाती है। डाक्टर के पास जाते हैं। पट्टी बँधवाते हैं। पीड़ा से चिल्लाते हैं। किन्तु स्वप्न से जागते ही स्वाप्निक व्यवहार की असत्यता पर हँसी आती है। उसी प्रकार जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक ही जगत् का व्यवहार सत्य प्रतीत होता है। ब्रह्मज्ञान होते ही समस्त कार्यभूत जगत् प्रपंच और उसके व्यवहार असत्य प्रतीत हो जाते हैं।

(३२)

येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥

मनुष्य (निद्रा से) जागने पर मिथ्या स्वप्न के समान इन्द्रियों के विषयों का जिस मन से ध्यान करता है और ध्यान करता हुआ जिस मन से इन्द्रियों को प्राप्त कर लेता है। उस मन को सर्वथा आलस्यरहित होकर नियन्त्रित करे।

इस पद्य के तीन आशय हैं :

(१) जब कोई व्यक्ति निद्रा से जागता है तो असत्य स्वप्न का सत्य के समान चिन्तन करता रहता है। स्वाप्निक जगत् का कारण उसी का अवचेतन मन होता है और स्वप्न का चिन्तन उसका चेतन मन करता है। इस प्रकार मनुष्य अपने मन से ही तत्तदिन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है। विषयों का बार-बार चिन्तन करने से उसकी इन्द्रियाँ बलवती होकर उन विषयों को ढूँढ़ने लगती है। इस प्रकार वह उन-उन इन्द्रियों और उनके विषयों के प्रति आसक्त हो जाता है। इसलिए सावधान होकर मन को नियन्त्रित करना चाहिए। मन के निरोध द्वारा समस्त मनोजगत् का स्वतः निरोध हो जाता है।

(२) कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि कोई योगारूढ़ पुरुष भी जब समाधि की अवस्था से व्युत्थान अवस्था में आता है तो उसका मन इन्द्रियों के उन विषयों का चिन्तन करने लगता है जो विषय वास्तव में स्वप्न के समान मिथ्या हैं। किन्तु जब तक वह समाधि की अवस्था में रहता है, तब तक इन विषयों का चिन्तन नहीं करता। इसलिए मन तथा इन्द्रियों का बड़ी सावधानी से शमन तथा दमन करना चाहिए। जब मन का पूर्ण निग्रह हो जाता है तो वह बिल्कुल अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है। तभी वह व्यक्ति अपने विशुद्ध आत्मा के स्वरूप को पहिचान कर उसके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः जब तक मन का निग्रह नहीं होता तभी तक संसार की सत्ता प्रतीत होती है। और उस प्रतीति में अर्थक्रियाकारिता रहती है। मन

का निग्रह होने पर यह प्रतीति लुप्त हो जाती है। तभी आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तथा विज्ञान उत्पन्न होता है और संसारचक्र से मुक्ति मिलती है।

(३) जब कोई ज्ञानी आत्मा को देह, इन्द्रिय, मन तथा अहंकार से अच्छी तरह भिन्न जान लेता है तो जिस ज्ञान से वह इन्द्रियों के मिथ्या विषयों को स्वप्न के समान मिथ्या समझता है, वही ज्ञान उसके मन तथा इन्द्रियों के निग्रह की भी सहायता करता है। इसी ज्ञान से उसकी अज्ञान तथा अज्ञानजन्य संसार की निवृत्ति होती है। इसके पश्चात् ही वह ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अपरोक्ष अनुभूति करने में समर्थ होता है।

(३३)

एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम्।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः॥

वेद, योग, सांख्य, त्याग, तपस्या, दम तथा सत्य इन सबका अन्त मनीषी लोग इसी में मानते हैं। जैसे समस्त नदियों का अन्त समुद्र में होता है।

पिछले पद्य में मन के एकान्त निग्रह को ही ब्रह्मसम्पत्ति का मूल कारण माना गया है। इसी के अन्तर्गत अन्यान्य समस्त उपाय आ जाते हैं। यहाँ अन्य उपायों में निम्नलिखित सात उपायों का संग्रह किया जाता है :

(१) **समाम्नाय**। समाम्नाय का तात्पर्य वैदिक कर्मकाण्ड से है।

(२) **योग**। योग से उपासना काण्ड लिया जाता है, क्योंकि योग का मूल हृदय तो ईश्वर-प्रणिधान ही है।

(३) **सांख्य**। सांख्य से ज्ञानकाण्ड लिया जाता है। क्योंकि सांख्य में आत्मा तथा परमात्मा के तत्त्व का विवेक, और आत्मा तथा अनात्मा का विचार है।

(४) **त्याग**। त्याग से दान तथा संन्यास का ग्रहण होता है।

(५) **तपस्**। तपस् का अर्थ चान्द्रायण आदि व्रतों का अनुष्ठान, तथा आत्म-चिन्तन है।

(६) **दम**। दम से इन्द्रियों का दमन अभीप्सित है।

(७) **सत्य**। सत्य का अर्थ यथार्थ भाषण है। सत्य के अभ्यास से असत्य से निवृत्ति होती है। पूर्ण रूप से सत्य प्रतिष्ठित हो जाने पर वाणी सिद्ध हो जाती है। यहाँ सत्य शब्द उपलक्षणमात्र है। अतः यहाँ अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

इन सभी साधनों का पर्यावसान मनोनिग्रह में माना गया है क्योंकि मनोनिग्रह ही ब्रह्मसम्पत्ति में मूल कारण है।

(३४)

यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्त्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥

जो मैं, तुम्हारी आँखों का प्रिय (श्रीकृष्ण) तुम सबसे (दैशिक दृष्टि से) दूर हो गया हूँ, वह मेरे में अनुध्यान की कामना से (तुम्हारे) मन का आकर्षण करने के लिए ही है।

यहाँ भगवान् को गोपियों के प्रति यह सन्देश-उपदेश है कि जो व्यक्ति अपनी आँखों के तारे के समान प्रिय होता है, वह यदि रात-दिन पास रहता हो तो कभी-कभी मन उससे दूर भाग जाता है। जब वही व्यक्ति कहीं दूर चला जाता है तो मन अहर्निश उसी के पास रहने लगता है। इस प्रकार चित्त की वृत्ति तेल की धारा के समान निरन्तर बहने वाली बन जाती है। यह चित्तवृत्ति जब श्रीकृष्ण के रूप में ढल जाती है तो प्रेमाभक्ति कहलाती है। और ब्रह्मसम्पत्ति का कारण बन जाती है। जो व्यक्ति भगवान् का निरन्तर ध्यान-अनुध्यान करता रहता है, वह भृंगी कीटन्याय[1] से भगवान् का स्वरूप प्राप्त कर लेता है। निरन्तर अनुसन्धान करते रहने से मन अत्यन्त सन्निकृष्ट हो जाता है। यदि यह कहें कि ठीक है श्रीकृष्ण और हमारी आत्मा में तादात्म्य है, सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही है। यह बात तो हमारी समझ में आ गई। किन्तु हमें तो श्रीकृष्ण के उसी त्रिभंगललित मुरलीमनोहर रासरसिक गोपिकाविहारी श्रीकृष्ण के त्रिभुवनकमनीय स्वरूप-माधुरी के नित्य दर्शन की प्यास है। वही स्वरूप हमारे मन तथा हमारी आँखों को प्रिय है। वह स्वरूप हमसे दूर चला गया है। उसी स्वरूप के विरह में हम संतप्त हैं। तो श्रीकृष्ण का उपदेश है कि मेरे दूर जाने का कारण भी तुम्हारे सतत आकर्षण के लिए ही है।

(३५)

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।
स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे॥

जिस प्रकार अपने अतिशयप्रिय व्यक्ति के दूर चले जाने पर मन उस व्यक्ति में चारों तरफ से अच्छी तरह प्रवेश कर जाता है। (उसी व्यक्ति के) बिल्कुल पास से नयनगोचर होते रहने पर स्त्रियों का चित्त उस प्रकार सन्निविष्ट नहीं होता।

इसका तात्पर्य है कि जब कोई प्रिय व्यक्ति अपने बिल्कुल पास रहता है तो मन निश्चिन्त रहता है। निश्चिन्त मन में अनुध्यान की प्रक्रिया धाराप्रवाह नहीं चलती। वही व्यक्ति जब दूर चला जाता है तो उसकी विशेषताएँ, उनके गुण तथा उसका प्रेम याद आने लगता है। मन उसी में रमा रहता है और निरन्तर उसी का चिन्तन करने लगता है। यह स्थिति स्त्रियों तथा पुरुषों दोनों के पक्ष से बराबर है। यद्यपि गोपियों का मन तो श्रीकृष्ण की सन्निधि में भी और विरह में भी उतना ही रमण करता रहता है। तथापि विरहावस्था में चित्तरति की उत्कृष्टता मानी गई है।

---

१ देखिए, डॉ. रसिकविहारी जोशी, 'श्रीरासपंचाध्यायी सांस्कृतिक अध्ययन', पृ. ३५।

(३६)

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं निवृत्ताशेषवृत्ति यत् ।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपेष्यथ ।।

(इस प्रकार) अपने पूरे मन को (अर्थात् समस्त मनोवृत्तियों को) जिस मन की अशेष वृत्तियाँ निवृत्त हो चुकी हैं, मुझमें चारों तरफ से अच्छी तरह प्रवेश करके नित्य मेरा अनुसरण करती हुई तुम सब अविलम्ब मुझे प्राप्त करोगी ।

पद्य का अभिप्राय है कि भगवान् का सतत अनुध्यान तथा अनुस्मरण ही भगवत्प्राप्ति का सबसे बड़ा उपाय है । जब मन भगवान् के ही ध्यान में एकाकार हो जाता है । जब मन की समस्त वृत्तियाँ इन्द्रियों के विषयों से सर्वथा उपरत हो जाती है । जब मन भगवान् में ही हमेशा-हमेशा के लिए रम जाता है । तब उसी क्षण भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है । ऐसी स्थिति की किसी भी विधि-विधान की आवश्यकता शेष नहीं रहती ।

(३७)

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः ।
अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया ।।

(शरत्पूर्णिमा की) रात को जब इस वृन्दावन में मैं रासलीला कर रहा था, उस समय जो गोपियाँ व्रज में रह गयीं थीं और जो (मेरे साथ) रास नहीं प्राप्त कर सकी थीं, उन कल्याणियों ने मेरे साथ शक्तिरूप का चिन्तन करके मुझे प्राप्त कर लिया था ।

इस पद्य में श्रीकृष्ण का गोपियों को अन्तिम सन्देश-उपदेश दिया गया है ।

(१) पद्य का आशय है कि निरन्तर भगवत्स्मरण ही भगवत्प्राप्ति का कारण बनता है । इसी रहस्य को समझाने के लिए यहाँ उन गोपियों का दृष्टान्त दिया गया है जिनको रासलीला के प्रसंग में आने का अवसर नहीं मिल पाया था, जिनको उनके पति-पिता द्वारा सम्बन्धियों ने घर में बन्द कर दिया था । किन्तु तीव्र अनुस्मरण की प्रबलता से इन गोपियों ने दो अनुभव किए ।

(क) पहला अनुभव का प्रथम क्षण था । इसमें अतिशय प्रिय श्रीकृष्ण के विरह की तीव्र अनुभूति थी । तीव्र विरह से उत्पन्न अग्नि में एक ही क्षण में उनके जन्म-जन्मान्तर के भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धक अशुभ कर्मराशि जलकर भस्म हो गई ।

(ख) दूसरा अनुभव का द्वितीय क्षण था । इसमें उनका अनन्त पुण्यकर्म उदय हुआ । और ध्याननेत्रों द्वारा उन्होंने श्रीकृष्ण का साक्षात्कार कर लिया । ध्यानावस्था की इसी स्थिति में उन्होंने श्रीकृष्ण का प्रेम से गाढ़ आलिंगन किया । आलिंगन की इस परमानन्दमयी अनुभूति में एक ही क्षण में उन्हें समस्त शुभ कर्मराशि का भोग प्राप्त हो गया । इस प्रकार दो क्षण में

ही इन गोपियों ने शुभ-अशुभ कर्मों का भोग समाप्त करके देह-त्याग कर दिया और ये श्रीकृष्ण के चरणों में अन्यान्य गोपियों से पहले ही पहुँच गईं।[1] वस्तुतः इन गोपियों ने पूर्वजन्म में अनन्त पुण्य कर्मों का सम्पादन किया था। इसीलिए इनको 'कल्याणी' कहा गया है।

(२) दूसरा आशय है कि निरन्तर भगवान् का अनुस्मरण भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धक कर्मों का नाश कर देता है। इसीलिए ये गोपियाँ कल्याणी बन गई थीं। अथवा रासलीला में उपस्थित नहीं होने पर भी जब ये गोपियाँ केवल भगवान् के अनुस्मरण मात्र से 'परकल्याण' प्राप्त करने में समर्थ हो गई थीं तो रासलीला में आनन्द प्राप्त करने वाली गोपियों के कल्याण में क्या सन्देह है? वास्तव में रासलीला में भगवान् के अंगस्पर्श के सुख के तुलना ब्रह्मलोक की प्राप्ति और ब्रह्मपद के भोग से भी श्रेष्ठ मानी गई है। ऐसी कल्याणी गोपियों के लिए तो केवल भगवत्स्वरूप की प्राप्ति ही शेष रह जाती है। इसीलिए यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश है कि मेरे स्वरूप की प्राप्ति के लिए मेरा प्रतिक्षण अनुस्मरण करना चाहिए। इस अनुस्मरण में भगवान् के स्वरूप का अनुसन्धान की प्रक्रिया धाराप्रवाह बहती रहती है। श्रीकृष्ण का कहना है कि मैं तो प्रतिक्षण गोपियों तथा मेरे भक्तों के हृदय में निवास करता हूँ किन्तु जब वे भी प्रतिक्षण मुझमें निवास करेंगे तब ही मेरे स्वरूप की प्राप्ति होगी।

(३८)

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्संदेशागतस्मृतीः॥

श्रीशुकदेव बोले—

इस प्रकार प्रियतम (श्रीकृष्ण) के आदिष्ट-उपदेश को सुनकर व्रजांगनाएँ प्रसन्न हो गईं। श्रीकृष्ण के सन्देश से उन्हें सब याद आ गया और वे उद्धव को कहने लगीं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि श्रीकृष्ण का यह सन्देश गोपियों के लिए आदेशपूर्ण था। स्वामी के किसी भी आदेश का सेवक को पालन करना अनिवार्य होता है। जैसे पिता का आदेश सन्तान के लिए, गुरु का आदेश शिष्य के लिए, पति का आदेश पत्नी के लिए, राजा का आदेश प्रजा के लिए और शास्त्रों का आदेश तत्तत् शास्त्रों के अनुयायियों के लिए अनिवार्य होता है। इसीलिए इस आदेशात्मक उपदेश को सुनकर और धारण कर गोपियाँ प्रसन्न हो गईं। वे समझ गईं कि उनके प्रियतम श्रीकृष्ण यह सन्देश उनका कल्याण करने के लिए ही भेजा है। उनको यह स्मरण हो गया कि वे सेविका हैं और श्रीकृष्ण सेव्य हैं। दोनों में सेव्यसेवकभाव सम्बन्ध है। सेवक को अपने सेव्य स्वामी के गुणों में कभी भी दोष नहीं देखने चाहिए। उसका तो यही धर्म है कि वह स्वामी की आज्ञा का पालन करता रहे और स्वामी की इच्छानुसार ही कार्य-

---

१ देखिए, रासपंचाध्यायी सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ५४।

व्यापारों में प्रवृत्त होता रहे। इस प्रकार अपने अधिकार तथा अनुस्मरण के सिद्धान्त को हृदय में जमाकर गोपियाँ उद्धव को बोलीं।

(३९)

गोप्य ऊचुः

दिष्ट्याऽहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ।
दिष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना ।।

गोपियाँ बोलीं—

यह बड़े ही आनन्द की बात है कि यादवों का शत्रु पापी कंस अपने छोटे भाई के साथ मारा गया। यह भी बड़े आनन्द की बात है कि समस्त मनोरथों को प्राप्त करने वाले वसुदेव आदि बन्धुओं के साथ अच्युत-श्रीकृष्ण अब यहाँ कुशलपूर्वक हैं।

गोपियों की प्रसन्नता के दो कारण थे :

(क) पहला कारण था कि कंस आदि राक्षसों को श्रीकृष्ण ने मार दिया था। इसका अर्थ था कि अब कृष्ण के लिए राक्षस-शत्रुओं से कोई खतरा नहीं था।

(ख) दूसरा कारण था कि श्रीकृष्ण अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धवों के साथ सकुशल, स्वस्थ तथा सानन्द थे।

श्रीकृष्ण के इस उपदेशात्मक सन्देश से गोपियों को अपनी स्वस्थिति तथा अनुस्मृति की याद आ गई और वे समझ गईं कि उन्हें श्रीकृष्ण हमेशा प्राप्त थे। किन्तु उनका प्रेम शरणभाव से था। पहले वे श्रीकृष्ण को परब्रह्म नहीं समझती थीं। इसी-लिए उनका मत श्रीकृष्ण के विरह से व्याकुल था।

गोपीपक्ष से यह भी ध्वनि निकलती है कि यादवों के प्रबल शत्रु कंस आदि सब शत्रु मर गए हैं और यादवों के मनोरथ पूर्ण हो गए हैं। किन्तु हमारे मनोरथ तो सब नष्ट हो गए। हम तो श्रीकृष्ण के विरह में व्याकुल की व्याकुल ही रह गईं। यादव बड़े भाग्यशाली हैं। वे अब श्रीकृष्ण के साथ आनन्द विहार कर रहे हैं। हम तो मन्दभागिनी हैं क्योंकि अब श्रीकृष्ण के दर्शन से भी वंचित हैं। जो श्रीकृष्ण हमारे साथ हमेशा 'अच्युत' थे, वे अब हमसे 'च्युत' हैं। और यादवों के साथ 'अच्युत' बन गए हैं।

(४०)

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियः स पुरयोषिताम् ।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभावितः ।।

वह रतिविशेषों को जानने वाला, नगर की स्त्रियों का प्रिय (श्रीकृष्ण) उनके वाग्व्यापारों से कैसे नहीं बाँध लिया गया होगा? और कैसे उनके कटाक्ष आदि विभ्रम-विलासों के अनुभव का विषय नहीं बना लिया गया होगा?

गोपियाँ श्रीकृष्ण के विरह में व्याकुल थीं। श्रीकृष्ण के दिव्य उपदेशामृत का पान करके भी वे अपने चित्तस्थ मात्सर्य के संस्कार-बीज को नष्ट नहीं कर सकीं। प्रस्तुत पद्य में उन्होंने अपने मात्सर्यभाव की जलन को स्पष्ट प्रकट कर दिया है। गोपियाँ जानती थीं कि श्रीकृष्ण प्रेम-रति के समस्त सूक्ष्म भेदों तथा प्रकारों के पूर्ण ज्ञाता थे। वे अवश्य ही नागरी स्त्रियों के प्रीतिपात्र बन गए होंगे। अथवा उन नागरियों ने अपने मीठे तथा चटपटे वार्तालाप, हाव-भाव तथा कृत्रिम व्यवहार से श्रीकृष्ण को बाँध लिया होगा। अपने कटाक्ष आदि चेष्टाओं से श्रीकृष्ण को अपने अनुभव का विषय बना लिया होगा। यहाँ 'च' से नागरियों की चित्तवृत्ति का भी ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार वचनविन्यास से वाणी, विभ्रम से शरीर तथा चित्तवृत्ति से मन इन तीनों से श्रीकृष्ण बाँध लिए गए होंगे। यहाँ यह भी ध्वनि निकलती है कि हम तो भोली-भाली ग्राम्य स्त्रियाँ हैं। नागरी स्त्रियों जैसे कपटपूर्ण बनावटी व्यवहार से अनभिज्ञ हैं। शायद इसीलिए श्रीकृष्ण हमें छोड़कर चले गए हैं।

(४१)

कच्चिद् गदाग्रजः सौम्य ! करोति पुरयोषिताम्।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः॥

हे सौम्य ! हमारे स्निग्ध, लज्जायुक्त, हासमिश्रित तथा उदार निरीक्षण से पूजित (श्रीकृष्ण) (जैसे पहले हम से प्रीति करते थे) अब (उसी प्रकार) नगर की स्त्रियों से प्रीति करते होंगे।

यहाँ यह ध्वनि है कि हमने तो श्रीकृष्ण का बड़े प्रेमपूर्वक निरीक्षण से बहुत आदर-सत्कार किया था, फिर भी वे हमें छोड़कर चले गए। किन्तु नगर की उन चतुर नागरियों के चंचल हाव-भावपूर्ण कटाक्षों में उलझकर उनसे प्रेम करने लग गए। अथवा यह भी ध्वनि है कि श्रीकृष्ण की इस प्रकार के प्रेमपूर्वक ईक्षणों से पूजा हम करती रहीं और उनकी प्रीति पुरस्त्रियों की मिली। अर्थात् तपस्या हमने की, और फल पुरस्त्रियों को मिला, अथवा श्रीकृष्ण वास्तविक प्रीति तो हमसे ही करते हैं, पुरस्त्रियों का तो कदाचित् केवल मनोरंजन मात्र करते होंगे।

(४२)

अपि स्मरति नः साधो ! गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित्।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे॥

हे साधु उद्धव ! क्या गोविन्द-श्रीकृष्ण कभी यथेच्छ नागरी स्त्रियों की गोष्ठी में प्रासंगिक कथान्तर का सन्दर्भ उपस्थित होने पर हम ग्राम्य स्त्रियों का भी स्मरण करते हैं ?

गोपियों की श्रीकृष्ण में प्रीति गुरुभाव से नहीं थी। वे श्रीकृष्ण को वेदान्तशास्त्र के अथवा ब्रह्मज्ञान के उपदेष्टा गुरु के रूप में स्मरण नहीं करती थीं। उनका प्रेम तो

सखीभाव से था। उद्धव द्वारा लाया गया श्रीकृष्ण का सन्देश गुरु के आदेश के रूप में था। अतः गोपियाँ अब उद्धव से यह जानना चाहती थीं कि श्रीकृष्ण जब कभी उनका उनकी सखियों के रूप में स्मरण करते हैं या नहीं। यदि यह कहा जाय कि यदि श्रीकृष्ण गोपियों को याद नहीं करते तो उद्धव के साथ सन्देश क्यों भेजते, तो गोपियों का कहना है कि हमें श्रीकृष्ण के ब्रह्मोपदेशक रूपक सन्देश की प्रतीक्षा नहीं थी। उनके पास हमारी जैसी ग्राम्य स्त्रियों को याद करने का समय ही कहाँ है ? बात-चीत के सन्दर्भ में जब कभी श्रीकृष्ण गोकुल की ही याद करते होंगे कि गोकुल के वे दिन कितने सुहावने थे। वहाँ कितनी स्वतन्त्रता थी। ऐसे अवसरों में हमारी याद करते हैं या नहीं। यहाँ श्रीकृष्ण को गोविन्द कहा है। गिरिराज धारण करके गोप-गोपियों तथा गौओं की रक्षा करने के कारण ही श्रीकृष्ण को 'गोविन्द' पद प्राप्त हुआ था। अतः हमारा स्मरण करते रहने पर ही श्रीकृष्ण का गोविन्द नाम सार्थक है।

(४३)

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि—
र्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्यां—
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥

क्या कभी श्रीकृष्ण उन रात्रियों का भी स्मरण करते हैं जिनमें उसने उस समय हम प्रियाओं के साथ कुमुद, कुन्द तथा पूर्णिमा के चन्द्रमा से रमणीय वृन्दावन में रमण किया था, और रासलीला में जब सबके चरणों में नूपुर ठनक रहे थे तब हम प्रियाओं द्वारा उस श्रीकृष्ण की अत्यन्त रमणीय कथाओं की चर्चा की जा रही थी।

यहाँ गोपियों का यह मनोभाव है कि श्रीकृष्ण रासलीला का तो अवश्य ही स्मरण करते होंगे। रासलीला के सन्दर्भ से कदाचित् हमारा भी स्मरण करते होंगे। शरत्पूर्णिमा की रात्रि में जब वृन्दावन में कुन्द, कुमुद तथा मल्लिका के फूल खिल रहे थे। पूर्णचन्द्र की चाँदनी चारों ओर छिटकी हुई थी। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रासलीला की थी। वस्तुतः योगमाया के प्रभाव से उस समय चारों दिशाओं में चार चन्द्रमा उदय हो गए थे। प्रफुल्लित पुष्पलताओं ने तथा चारों चन्द्रमा की अनोखी चाँदनी की छटा ने पूर्ण रूप से उद्दीपन सामग्री तैयार कर दी थी।[1] इस प्रकार के अविस्मरणीय प्रसंग के स्मरण करने के अवसर पर कदाचित् श्रीकृष्ण हमारा भी स्मरण करते होंगे। यहाँ यह ध्वनि निकलती है कि जब श्रीकृष्ण को रासलीला के लिए हमारी अपेक्षा थी, तब हम उनकी प्रियाएँ थीं, तब उन्होंने रास के लिए हमें प्रत्येक का नाम ले लेकर बुलाया था। अब जब नागरी स्त्रियाँ उनको प्रियाएँ प्राप्त

---

१ रासलीला के विस्तृत अध्ययन के लिए, 'रासपंचाध्यायी सांस्कृतिक अध्ययन' देखिए।

हो गई हैं तो हम शिष्याएँ बना दी गई हैं। इसीलिए यह गुरु का सन्देश भेजा है। यदि वास्तव में श्रीकृष्ण हमसे उसी प्रकार प्रेम करते और उसी प्रकार स्मरण करते, तो प्रियसन्देश भेजते, गुरुसन्देश नहीं।

(४४)

अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा।
संजीवयंस्तु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः॥

क्या दाशार्ह-श्रीकृष्ण, स्वयं अपने किए हुए शोक से संतप्त हमें अपने शरीर के मुखादि अवयवों से जीवित करते हुए, यहाँ आएँगे ? जैसे इन्द्र वन-दावानल को मेघों से शान्त करता हुआ आता है।

इस पद्य में गोपियों ने अपना प्रधान मनोरथ व्यक्त किया है। उनके विरह से संतप्त हृदय में श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा अत्यन्त बलवती थी। वे स्वयं तो सब अपने-अपने बन्धु-बान्धवों से परतन्त्र थीं। अतः स्वयं श्रीकृष्ण के पास जाने में समर्थ नहीं थीं। अतः श्रीकृष्ण के ही गोकुल में आने की सम्भावना ढूँढ़ रही थीं। श्रीकृष्ण के आगमन के औचित्य के लिए गोपियों ने यहाँ चार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

(१) श्रीकृष्ण ही उनके विरह-ताप के कारण थे। अतः श्रीकृष्ण को ही स्वयं आकर अपने शरीर के दर्शन तथा अंगस्पर्श से उनके शोक संताप को शान्त करना चाहिए था। अतः श्रीकृष्ण ही आना संगत है।

(२) यदि श्रीकृष्ण गोकुल नहीं आते हैं तो गोपियों को उनकी स्वयं की देह-यात्रा की ही समाप्त होने की आशंका थी। यदि उनका शरीर ही नहीं रहा तो श्रीकृष्ण से इस ब्रह्मोपदेश का पालन कौन करेगा ? यदि श्रीकृष्ण के दर्शन किए बिना ही दर्शन की अवशिष्ट इच्छा के साथ उनका देहपात हो गया तो उनकी मुक्ति भी नहीं होगी। अतः अपने ब्रह्मोपदेश को सार्थक बनाने के लिए भी श्रीकृष्ण का गोकुल आना संगत था।

(३) यदि कहें कि ब्रह्मज्ञान से तो सांसारिक त्रिविध तापों की तत्काल निवृत्ति हो जाती है, तो गोपियों का कहना है कि उनका ताप तो कोई विलक्षण ताप है, जो श्रीकृष्ण के विरह के कारण उत्पन्न हुआ है और श्रीकृष्ण के मिलने से ही निवृत्त हो सकता है। अतः श्रीकृष्ण का आना संगत है।

(४) चौथी युक्ति दृष्टान्त-गर्भित युक्ति है। जैसे किसी साधारण छोटे से जलते हुए घर की अग्नि पानी की बाल्टियों से बुझ जाती है। किन्तु किसी घनघोर जंगल की प्रचण्डरूप से दहकती हुई दावानल की ज्वालाएँ इन्द्र के मेघों की मूसलाधार वर्षा से ही बुझ सकती हैं। अतः गोपियों का कथन है कि उनका विरह-ताप तो श्रीकृष्ण के ही रमणीय तथा शीतल मुखारविन्द के साक्षात्कार से ही सम्भव है। अतः श्रीकृष्ण का आना पूर्ण संगत है।

(४५)

कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः ।
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥

अब श्रीकृष्ण यहाँ क्यों आवेंगे ? उनको राज्य मिल गया है । उनके शत्रु मर गए हैं । उन्होंने राजकुमारियों से विवाह कर लिया है । वे सब मित्रों से घिरे हुए हैं और प्रसन्न हैं ।

यह एक साधारण लोकनियम है कि जब कोई व्यक्ति किसी से बहुत प्रेम करता है तो उस व्यक्ति की अनुपस्थिति में उसके प्रति उसके मन में अनेक प्रकार की आशंकाएँ उत्पन्न होती रहती हैं । यहाँ श्रीकृष्ण ने नहीं आने की सम्भावना को लेकर गोपियों ने चार आशंकाएँ की हैं ।

(१) जब श्रीकृष्ण को वसुदेव गोकुल में लाए थे, तब वे असहाय थे । उनके पीछे बड़े-बड़े राक्षस-शत्रु हाथ धोकर पड़े थे । उन शत्रुओं से छिपाकर श्रीकृष्ण को बचाने के लिए ही वसुदेव ने नवजात श्रीकृष्ण को गोकुल पहुँचाया था । किन्तु अब स्थिति बदल गई है । अब श्रीकृष्ण को राज्य प्राप्त हो गया है । गोकुल जैसी छोटी-सी जगह में गाएँ चराने से उनका क्या प्रयोजन है । अतः श्रीकृष्ण के आने की संभावना प्रतीत नहीं होती ।

(२) पहले श्रीकृष्ण को कंस के भय से गोकुल में छिपाया गया था । किन्तु कंस का अब वध हो चुका है । गोकुल में भी अब कोई ऐसा दुष्ट बली राक्षस नहीं बचा है, जिसे मारने के लिए श्रीकृष्ण के गोकुल में आने की सम्भावना थी ।

(३) अब अनेक ने अनेक दुष्ट राजाओं को जीतकर अनेक राजकुमारियों से विवाह कर लिया है । अतः गोकुल आने की उन्हें फुरसत ही कहाँ है ?

(४) वहाँ श्रीकृष्ण के साथ सभी मित्र तथा बन्धु-बान्धव रहते हैं । उनके साथ हास-परिहास में उनका मन हमेशा लगा रहता है । अतः उनके आने की सम्भावना नहीं है ।

(४६)

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥

(अथवा वस्तुतः) उस कृतात्मा, श्रीपति, आप्तकाम तथा महात्मा श्रीकृष्ण का हम जैसी वनचरियों अथवा अन्यान्य राजकुमारियों से भी क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ।

यहाँ गोपियों का आशय है कि सामान्यरूप से वे ही व्यक्ति लौकिक व्यवहार को निभाते हैं जो पुरुषार्थ चतुष्टय में से किसी एक की कामना करते हैं । श्रीकृष्ण तो साक्षात् परब्रह्म हैं । उनको धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष किसी से भी प्रयोजन नहीं है ।

फिर हम जैसी साधारण ग्राम्य वनचरी स्त्रियों से अथवा असाधारण राजकुमारियों से श्रीकृष्ण का क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। इसी आशय की पुष्टि के लिए गोपियों ने इस पद्य में श्रीकृष्ण के लिए चार विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

(१) कृतात्मा। श्रीकृष्ण तो कृतकृत्य हैं। उनके लिए कोई भी कार्य करना शेष नहीं है। वे तो सब विधि तथा निषेध से ऊपर हैं। उनका तो धर्म से भी कुछ प्रयोजन नहीं है।

(२) श्रीपति। श्रीकृष्ण तो श्रीमहालक्ष्मी के पति हैं। उनको 'अर्थ' से भी कोई प्रयोजन नहीं है।

(३) आप्तकाम। श्रीकृष्ण में किसी प्रकार की कामना नहीं है। उनको समस्त कामना प्राप्त हैं। अतः उनका 'काम' से भी कुछ प्रयोजन नहीं है।

(४) महात्मा। श्रीकृष्ण परमात्मा परब्रह्म हैं। अतः उनका 'मोक्ष' से भी कुछ प्रयोजन नहीं है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण न तो धर्मार्थी हैं, न अर्थार्थी हैं, न कामार्थी हैं और न मोक्षार्थी हैं। वे तो पूर्णकाम परात्पर परब्रह्म हैं।

(४७)

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया॥

स्वैरिणी पिंगला ने भी कहा था कि निराशा ही परम सुख है। हम इसे जानती हैं। फिर भी हमारी बलवती आशा श्रीकृष्ण में लगी है।

इस संसार में समस्त दुःखों का मूल कारण आशा है। आशा ही प्रवृत्ति का कारण है। आशा ही पूर्ति न होने पर दुःख का कारण बनती है। इसीलिए प्रवृत्ति से बन्धन और निवृत्ति से मोक्ष माना जाता है। स्वच्छन्द आचरण करने वाली पिंगला नाम की वेश्या ने भी निराशा को सुख का कारण स्वीकार किया था। निराशा का अर्थ है किसी भी प्रकार की आशा ही नहीं करना। वस्तुतः जब पिंगला श्रीकृष्ण की अनन्य भक्त बन गई थी, तब उसके मन में केवल श्रीकृष्ण के साक्षात्कार की ही एक-मात्र आशा थी। श्रीकृष्ण को प्राप्त करने की आशा से ही उसने जगत् की अन्य सभी आशाओं का त्याग कर दिया था। किन्तु हमारे पास तो श्रीकृष्ण के लौटने तथा श्रीकृष्ण के पुनः दर्शन की भी आशा नहीं है। जबकि पिंगला के मन में श्रीकृष्ण की आशा विद्यमान थी। हम किस आशा से श्रीकृष्ण की आशा का त्याग करें।

(४८)

क उत्सहेत संत्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम्।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्॥

उत्तम श्लोक श्रीकृष्ण के ज्ञान को छोड़ने का कौन उत्साह कर सकता है?

(साक्षात्) भगवती महालक्ष्मी, नहीं चाहने पर भी जिसके अंग से कभी भी च्युत नहीं होती।

यदि यह कहा जाय कि श्रीकृष्ण की प्राप्ति तो अत्यन्त दुर्लभ है। फिर उसकी प्राप्ति की आशा से संतप्त होना गोपियों के लिए सर्वथा अनुचित है। तो गोपियों का उत्तर है कि इस त्रिभुवन में कौन ऐसा व्यक्ति है जो श्रीकृष्ण सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान से विमुख रहना चाहेगा। अथवा श्रीकृष्ण सम्बन्धी एकान्त कथा, लीलागुणानुवाद तथा स्वरूप-माधुरी को छोड़ना चाहेगा। जिस श्रीदेवी के एक ही करुणाकटाक्ष का विषय बनने के लिए समस्त देवता लालायित रहते हैं। वही श्रीदेवी श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर रमण करती है। और एक क्षण के लिए भी वहाँ से हटना नहीं चाहती। जब साक्षात् श्रीदेवी की यह स्थिति है तो साधारण गोपियों की तो बात ही क्या है।

(४९)

सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणरवा इमे।
सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ! ॥

हे प्रभु उद्धव ! नदी, पर्वत, वनप्रदेश, गाएँ तथा वंशीध्वनि ये सब बलराम के साथ श्रीकृष्ण के आचरण से संवलित हैं।

श्रीकृष्ण ने पहले अपने सन्देश में यह कहा था कि मेरा नित्य निरन्तर अनुस्मरण तथा अनुध्यान परम कल्याणकारक है। समस्त सांसारिक तापों से मुक्ति दिलाने वाला है। किन्तु गोपियों का कथन है कि इस गोकुल में पाँच प्रबल प्रतिबन्धक हैं। जिनके कारण श्रीकृष्ण का निरुपाधिक अनुस्मरण असम्भव है। ये पाँचों प्रतिबन्धक श्रीकृष्ण की प्रीतिमयी मित्रता की ही याद दिलाते रहते हैं। और एक क्षण के लिए भी हम इनसे दूर नहीं जा पाती हैं। इनके साथ बलराम और श्रीकृष्ण के लीलाचरित जुड़े हुए हैं। ये प्रतिबन्धक निम्नलिखित हैं :

(१) **नदी**। नदी से यहाँ यमुना का ग्रहण किया गया है। गोपियों का आशय है कि यदि हम अन्यान्य व्यापारों से विमुख भी हो जायँ तो भी कम से कम यमुना में स्नान करने तथा यमुना से जल लाने तो हमें जाना ही पड़ेगा। यमुना को देखते ही हमें श्रीकृष्ण की याद आ जावेगी।

(२) **शैल**। शैल से गोवर्धन पर्वत लिया गया है। घर के बाहर आते ही गोवर्धन पर्वत दिख जाता है और श्रीकृष्ण की गोवर्धन धारण लीला याद आ जाती है।

(३) **वनोद्देश**। घूमने निकलती हैं तो वृन्दावन ही वृन्दावन है, जहाँ श्रीकृष्ण हमारे साथ क्रीड़ा किया करते थे।

(४) **गाएँ**। घर के अन्दर और गाएँ दिखती हैं। वे भी श्रीकृष्ण की याद दिला देती हैं।

(५) **वेणरव**। जब सोती हैं तब श्रीकृष्ण की मुरली की मधुर नाद-झंकृति कानों में गूँजती रहती है।

(५०)

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत ।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ।।

(ये सब हमें) नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की बार-बार याद दिलाते हैं। श्रीकृष्ण के शोभाधाम चरणों के कारण हम श्रीकृष्ण को भूलने में समर्थ नहीं हो सकतीं।

इस प्रकार गोपियाँ श्रीकृष्ण के विप्रकृष्ट होने पर भी श्रीकृष्ण को अपने सन्निकृष्ट ही देख रही थीं, क्योंकि श्रीकृष्ण के चरण कमल उनके मन में रमे हुए थे। गोकुल की प्रत्येक वस्तु उन्हें श्रीकृष्ण की स्मृति में विभोर कर देती थी जैसे उन पर श्रीकृष्ण के चरण चिह्न अंकित थे। इस प्रकार उनकी बड़ी विषम स्थिति थी। न तो वे श्रीकृष्ण को भूल सकती थीं और न श्रीकृष्ण की सन्निधि प्राप्त कर सकती थीं।

(५१)

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः ।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तद् विस्मरामहे ।।

(श्रीकृष्ण की) ललित गति से, उदार हँसी तथा लीलापूर्वक निरीक्षण से, तथा मधुर वाणी से हमारी बुद्धि हरण की जा चुकी है। हम उसे कैसे भूल सकती हैं।

यदि यह कहा जाय कि तुम श्रीकृष्ण को अपनी बुद्धि से भूल सकती हो। बुद्धि ही चित्तनिरोध का कारण बनती है। तो गोपियों का कथन है कि उनकी तो स्वतन्त्र निश्चयात्मक बुद्धि ही अब अवशिष्ट नहीं है। क्योंकि उनकी बुद्धि को तो श्रीकृष्ण ने पहले ही निम्नलिखित तीन बातों से हर लिया है :

(१) ललित गति से।
(२) उदार हास तथा विलासपूर्वक अवलोकन से।
(३) द्राक्षारस के निस्यन्द के समान मधुर वाणी से।

इसका यह आशय है कि गोपियों की बुद्धि निरन्तर इन्हीं में निगृहीत हो चुकी थी। वे कभी श्रीकृष्ण की ललित गति का ध्यान करती थीं। कभी श्रीकृष्ण की मन्द-मन्द मुसकान तथा लीलापूर्वक निरीक्षण का ध्यान करती थीं। और कभी श्रीकृष्ण की मधुर वाणी का चिन्तन करके मग्न हो जाती थीं। यदि यह कहा जाय कि गोपियों की बुद्धि का तो हरण हो चुका था, किन्तु श्रीकृष्ण की बुद्धि तो ठीक-ठिकाने थी। उन्होंने गोपियों का स्मरण क्यों नहीं किया। अब तक श्रीकृष्ण द्वारा स्मरण नहीं किए जाने से गोपियों को इसकी आशा भी नहीं रही। अतः अब वे उद्धव को श्रीकृष्ण-प्राप्ति का उपायान्तर पूछ रही हैं।

(५२)

हे नाथ ! हे रमानाथ ! व्रजनाथार्तिनाशन ! ।
मग्नमुद्धर गोविन्द ! गोकुलं वृजिनार्णवात् ।।

हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे दुःखहर्ता ! हे गोविन्द-श्रीकृष्ण ! दुःखसागर में डूबे हुए इस गोकुल का उद्धार करो ।

इस पद्य में श्रीकृष्ण के प्रति निम्नलिखित पाँच सम्बोधनों का साभिप्राय प्रयोग किया गया है ।

(१) हे नाथ ! 'नाथ' पद से गोपियों का भाव है कि श्रीकृष्ण तो जगन्नाथ हैं । इसलिए चर-अचर सबकी रक्षा का भार उठाते हैं । कभी गजेन्द्र का मोक्ष करते हैं, कभी गिरिराज धारण करते हैं, तो कभी अपने स्तनों पर विष का लेप करके श्रीकृष्ण को स्तन पिलाकर मारने की इच्छा से आने वाली पूतना को भी मोक्ष प्रदान करते हैं । अतः समस्त गोकुलवासी गायों, गोपों तथा गोपियों को भी श्रीकृष्ण अपने विरहरूपी दुःखसागर से उबारें, तभी उनका 'नाथ' नाम यथार्थ होगा ।

(२) हे रमानाथ ! यदि श्रीकृष्ण यह कहें कि मैं तो नाथ रूप से सबको मोक्ष प्रदान करता हूँ । तुम चाहो तो तुम्हारा भी तत्काल मोक्ष कर दूँ, तो गोपियों ने दूसरा सम्बोधन दिया है । इसका आशय है कि जिस प्रकार तुम अपने अंगस्पर्श से श्रीरमालक्ष्मी को आनन्दित करते हो, वैसी ही कृपा हम पर करो । यही हमारी अभिलाषा है ।

(३) हे व्रजनाथ ! यदि श्रीकृष्ण कहें कि मेरा रमानाथत्व तो केवल मेरी रमा के लिए है, सबके लिए नहीं । तो गोपियों ने तीसरा सम्बोधन दिया कि तुम व्रजनाथ भी हो । सम्पूर्ण व्रजमण्डल के स्वामी हो । अतः व्रजमण्डल तथा व्रजवासियों की रक्षा करना भी तुम्हारा धर्म है ।

(४) हे आर्तिनाशन ! यदि श्रीकृष्ण यह कहें कि मैं तो अब व्रज में नहीं रहता । अतः मेरे पिता नन्द बाबा के पास जाओ । तो चौथा सम्बोधन है कि तुम तो अपने स्वरूप से ही आर्तिनाशक कहलाते हो क्योंकि तुम्हारा 'हरि' नाम है । जो सबके दुःखों का हरण कर ले, वही हरि है । अतः हमारे विरह दुःख का हरण करके अपना नाम सार्थक करो ।

(५) हे गोविन्द ! चौथे सम्बोधन को पुष्ट करने के लिए ही पाँचवाँ विशेषण दिया गया है । इसका तात्पर्य है कि गोवर्धन धारण करते वक्त ही तुम्हें 'गोविन्द' नाम प्राप्त हुआ था । जब तुमने इन्द्र के भय से भीत व्रज की रक्षा की थी । अब स्वयं अपने विरह से संतप्त गोपियों की रक्षा करो ।

(५३)

श्रीशुक उवाच

ततस्ताः प्रियसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम् ॥

श्रीशुकदेव बोले—

इसके बाद फिर (उद्धव द्वारा) प्रियतम के सन्देशों से उन गोपियों का विरह ज्वर विशेष रूप से नष्ट हो गया । उन्होंने अधोक्षज-श्रीकृष्ण को और स्वयं आत्मरूप से जानकर उद्धव की पूजा की ।

गोपियों की शिकवा-शिकायत सुनने के बाद उद्धव ने श्रीकृष्ण के सन्देश को दुबारा अच्छी तरह समझाया। इससे गोपियाँ अपनी विरहव्यथा को भूल गईं। उनको ज्ञान हो गया। वे समझ गईं कि श्रीकृष्ण तथा उनकी आत्मा में एक ही परब्रह्म समाया हुआ है। इस प्रकार परमार्थ दशा में अद्वैत की सत्यता का बोध कर लेने पर भी, व्यवहार दशा में द्वैत की सत्यता को समझते हुए, उन्होंने उद्धव को गुरु-श्रीकृष्ण का प्रतिनिधि मानकर बड़े आदर से उनकी पूजा प्रारम्भ की।

(५४)

उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदञ्छुचः।
कृष्णलीलाकथा गायन् रमयामास गोकुलम्॥

फिर उद्धव ने गोपियों के शोक को नष्ट करते हुए कई महिनों तक वहाँ निवास किया। वे श्रीकृष्ण की लीलाओं तथा कथाओं को गा-गाकर गोकुल को प्रसन्न किया करते थे।

यद्यपि गोपियों को कृष्णाद्वैत का बोध हो गया था किन्तु उनका मन तो फिर भी मुरलीधर गोपालकृष्ण की घुंघराली अलकावली में ही उलझता रहता था। अतः उद्धव गोपियों को भगवान् के नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप का बार-बार श्रवण कराते थे और उनके शोक की व्यथा को नष्ट करते रहते थे। उद्धव यह भी जानते थे कि गोपियों का प्रेम में परिपक्व मन कृष्णाद्वैत के ज्ञान को बहुत समय तक धारण नहीं करता है, बल्कि शीघ्र ही फिर दुबारा श्रीकृष्ण की लीलाओं के चिन्तन में रम जाता है। अतः वे श्रीकृष्ण की लीलाओं और कथाओं को बड़े मधुर स्वर से गा-गाकर गोकुल-वासियों के मन को आनन्दित किया करते थे। श्रीकृष्ण की लीला-कथाओं को सुनने के लिए बड़े-बड़े योगीश्वर, मुमुक्षु तथा मुक्तपुरुष भी लालायित रहते हैं। अतः कृष्णा-द्वैत तथा कृष्णभक्ति दोनों का मिश्रण व्रजवासियों की शोकनिवृत्ति, प्रसन्नता तथा आत्मज्ञान का कारण बन गया था।

(५५)

यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत् स उद्धवः।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन् कृष्णस्य वार्तया॥

इस प्रकार जितने दिन उद्धव ने नन्द बाबा के व्रज अर्थात् गोकुल में निवास किया, श्रीकृष्ण की वार्तालाप से व्रजवासियों को वे दिन एक क्षण के समान प्रतीत हुए।

यह एक साधारण नियम है कि सुख के दिन बड़ी जल्दी बीत जाते हैं और दुःख के दिन बड़े लम्बे प्रतीत होते हैं। इसलिए उद्धव द्वारा नित्य नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के गुणानुवादों को सुनने में तल्लीन तथा परब्रह्मविषयक ब्रह्मोपदेश सुनने में रत व्रज-वासियों को काल का ज्ञान ही नहीं रहा। उनकी चित्तवृत्ति सर्वथा अन्तर्मुखी हो गई। उनका मन कालातीत अवस्था में पहुँच गया और वे स्वयं को श्रीकृष्ण से अभिन्न

समझने लगीं। श्रीकृष्ण की लीला-कथाओं में उनका मन इतना तन्मय हो गया था कि उनको किसी भी लौकिक व्यापार की सुध ही नहीं रही और इस प्रकार दिन पर दिन बीतते गए।

(५६)

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्ष्यन् कुसुमितान् द्रुमान्।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्॥

उद्धव हरि-श्रीकृष्ण के दास थे। वे वहाँ यमुना, वृन्दावन, गोवर्धन की गुफाओं तथा फूलों से लदे हुए वृक्षों को देखते हुए और व्रजवासियों को श्रीकृष्ण का स्मरण कराते हुए रमण करते रहे।

उद्धव श्रीकृष्ण के प्रिय अनुचर ही नहीं थे, बल्कि श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त भी थे। इसीलिए वे गोकुल में कई महिनों तक रहे। वे नित्य यमुना स्नान करते थे, वृन्दावन तथा गोवर्धन की परिक्रमा लगाते थे। वे व्रजवासियों से श्रीकृष्ण द्वारा यहाँ-वहाँ की गई लीलाओं को सुन-सुनकर आनन्द में डूब जाते थे और स्वयं भी उन्हें श्रीकृष्ण का सन्देश तथा श्रीकृष्ण की लीला-कथाओं को बड़े प्रेम से सुनाकर आनन्द सागर में निमज्जित किया करते थे। इस प्रकार उद्धव ने श्रीकृष्ण के सभी लीला-स्थानों का दर्शन किया और अपने चिर आकांक्षित मनोरथ पूर्ण किए।

(५७)

दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ॥

इस प्रकार गोपियों की श्रीकृष्ण के आवेश से मन की विकलता आदि को देखकर उद्धव अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन गोपियों को प्रणाम करते हुए उनके महत्व का इस प्रकार गुणगान करने लगे।

गोपियों की अवस्था दो प्रकार की थी :

(१) कभी तो वे श्रीकृष्ण के ब्रह्मोपदेश के ज्ञान से पूर्ण रूप से समाहित चित्त हो जाती थीं। इस अवस्था में वे किसी महान् योगारूढ़ पुरुष के समान ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती थीं। इस समय वे स्वयं अपने को श्रीकृष्ण से अभिन्न मानती थीं और कृष्ण-अद्वैतवाद में प्रतिष्ठित होकर श्रीकृष्ण को अपने से अभिन्न अद्वय ज्ञानस्वरूप समझकर मुक्तपुरुष के समान आचरण करती थीं।

(२) कभी वे ही गोपियाँ श्रीकृष्ण को अपना अतिशय प्रिय सखा मानकर उसके विरह में व्याकुल हो जाती थीं और श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के आवेश से मूर्छित हो जाती थीं।

इस प्रकार उद्धव ने गोपियों की, समाहित अवस्था में, अहंता तथा अस्मिता के त्याग के साथ, सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वयज्ञानतत्त्वस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ

अभेद सम्पत्ति की स्थिति में ब्रह्मात्मक स्थिति देखी; और व्युत्थान अवस्था में श्रीकृष्ण के विरह के ताप से उनकी देहविकलता तथा देहानुसन्धान की विस्मृति की स्थिति देखी। दोनों स्थिति को देखकर उद्धव आश्चर्य तथा प्रसन्नता से चकित हो गए। क्योंकि इन दोनों अवस्थाओं की एक साथ स्थिति बड़े-बड़े महात्माओं तथा योगसिद्ध भक्तों में भी दुर्लभ होती है। उन्होंने यह मन में निश्चय कर लिया कि ये दोनों अवस्थाएँ स्वयं उनमें भी नहीं थीं। इसलिए वे मन ही मन गोपियों को प्रणाम करने लगे, और उनका गुणगान करने लगे।

(५८)

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥

इस संसार में केवल इन गोपांगनाओं का जन्म ही सफल है क्योंकि अखिलात्मा गोविन्द-श्रीकृष्ण में इनका (प्रेम-) भाव पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ है। जिस रूढ़भाव की कामना जन्म-मरण रूपी संसार से भयभीत (मुमुक्षु) मुनिजन तथा हम भी किया करते हैं। जिसको अनन्त-श्रीकृष्ण की कथा का रस मिल गया है उसको ब्राह्मण आदि कुल में जन्म से भी क्या प्रयोजन है ?

अब उद्धव उन्मुक्त भाव से गोपियों की महिमा का गुणगान करने लगे। यहाँ उन्होने गोपियों के लिए 'तनुभृताः' शब्द का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य है कि उद्धव की दृष्टि में केवल गोपियों का शरीर धारण करना ही सफल था। उनका जन्म ही सफल जन्म था। जब तक मनुष्य को देहाध्यास रहता है तब तक वह बन्ध तथा प्रपंच के चक्कर में फँसा रहता है। देहाध्यास वाले मनुष्य स्थूल देह को ही आत्मा समझ कर भटकते रहते हैं। किन्तु गोपियों का देहाध्यास छूट गया था। उनको अच्छी तरह यह ज्ञान हो गया था कि वे स्वयं देह नहीं हैं बल्कि देह को धारण करने वाली हैं। यदि उद्धव को यह निश्चय नहीं होता तो वे 'तनुभृताः' के स्थान पर 'तनुमयाः' शब्द का प्रयोग करते। गोपियों के देहाध्यास हटने का एकमात्र कारण उनका गोविन्द-श्रीकृष्ण के प्रति प्ररूढ़ प्रेमभाव था। प्रेम की तन्मयता की पराकाष्ठा में गोपियों के मन में सर्वत्र कृष्णभाव उत्पन्न हो गया था। श्रीकृष्ण को ही वे 'अखिलात्मा' के रूप में देख रही थीं। इस प्रकार के दिव्य भाव वाली गोपियाँ लौकिक स्त्रियों के समान नहीं थीं। लौकिक स्त्रियों में देहाध्यास की प्रबलता रहती है। देहतादात्म्य का ज्ञान इन स्त्रियों को नहीं रहता। यदि यह कहा जाय कि श्रीमहालक्ष्मी आदि दिव्यांगनाएँ भी देहतादात्म्य के अध्यास वाली हैं अर्थात् देहाध्यास से ऊपर हैं तो यहाँ 'गोपवधू' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रीमहालक्ष्मी तो नारायण-वधू हैं। नारायण-वधू का नारायण के साथ नित्य संयोग है। उनका वियोग त्रिकाल में कभी भी सम्भव नहीं

है। अतः वे वियोगजन्य प्ररूढ़भाव से युक्त नहीं हैं। इस रूढ़भाव की बड़े-बड़े मुमुक्षु योगी, तत्त्ववेत्ता मुनि, जीवन्मुक्त ज्ञानी तथा परम भक्त भी कामना करते रहते हैं। क्योंकि भवसागर से पार कराने में यही रूढ़भाव सबसे सरल तथा सबसे उत्तम उपाय बन जाता है। वास्तव में देहाध्यास की वृत्ति से शून्य हो जाना और भगवान् के प्रति इस प्रकार अलौकिक रूढ़भाव से ओतप्रोत प्रेम प्राप्त करना, इन दोनों की एक साथ स्थिति बड़ी दुर्लभ है। मुमुक्षुओं को मोक्ष की इच्छा प्रबल होती है, अतः रूढ़ प्रेमभाव नहीं होता। तत्त्ववेत्ता मुनियों में तत्त्वज्ञान की चिन्ता रहती है, अतः सर्वात्मभाव होने पर भी रूढ़ प्रेमभाव नहीं होता। यद्यपि नारद और प्रह्लाद जैसे भक्तों में ऐसा रूढ़ प्रेमभाव प्राप्त होता है किन्तु उनमें भी अपने-अपने देहाधिकार के अनुसार लौकिक क्रियाकारिता देखी जाती है। अतः ऐसा रूढ़ प्रेमभाव नहीं होता। यदि कहें कि दिव्य ज्ञानी तथा योगारूढ़ भक्त रूढ़भाव सम्पन्न हैं। तो उनमें भी एकान्त ब्रह्मभाव केवल अन्तर्वृत्ति की दशा में ही रहता है। बहिर्वृत्ति की दशा में वे श्रुति-स्मृति-पुराणप्रतिपादित धर्माचरण में व्यापृत हो जाते हैं। और उस आचरण के माध्यम से इष्टदेवता की आराधना करते हैं। अतः उच्च कुल में जन्म प्राप्त करने पर भी तत्तत्कर्मों के अनुष्ठान का व्यवधान रहने से उनमें गोपियों जैसा रूढ़भाव उत्पन्न नहीं होता। वस्तुतः किसी-किसी व्यक्ति को अनन्त-श्रीकृष्ण की कथा के रस के अमृत की अलौकिक माधुरी चखने को मिल जाती है, वही व्यक्ति धन्य हो जाता है। केवल ब्राह्मण आदि कुल में जन्म लेने मात्र से क्या है ? जाति की उत्कृष्टता और अपकृष्टता तो भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धक नहीं होती। गोपियों का जन्म तो उत्कृष्ट जाति में नहीं हुआ था, किन्तु फिर भी बड़े-बड़े योगीश्वर, ऋषि-मुनि, भक्त तथा देवता गोपियों के चरण रज की कामना किया करते हैं।

(५९)

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैव परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥

कहाँ तो ये वनचरी व्यभिचारदुष्ट स्त्रियाँ और कहाँ इनका परमात्मा श्रीकृष्ण में ऐसा रूढ़भाव ? अवश्य ही परमेश्वर निरन्तर भजन-परायण मूर्ख का भी साक्षात् कल्याण कर देता है। जैसे (अनजाने में भी) पीया हुआ अमृत।

यहाँ गोपियों के लिए चार विशेषणों का प्रयोग किया गया है। उसका यह अभिप्राय है।

(१) इमाः। पहले विशेषण से गोपियों का साधारण जाति में जन्म संकेतित है। इस विशेषण से गोपियों की तरफ अंगुलि बताकर निर्देश किया गया है।

(२) **स्त्रियः**। दूसरे विशेषण से साधारण स्त्रीजाति संकेतित है। स्त्रीयोनि को धर्मशास्त्र में निकृष्ट योनि माना गया है।

(३) **वनचरीः**। तीसरे विशेषण से गोपियों की निकृष्टता की परसीमा संकेतित है कि इस पर भी वे वन में विचरण करने वाली हैं। वनचरी स्त्रियाँ प्रायः व्यभिचार-दोष से युक्त कही जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि वन में निवास तो तपस्वी तथा मुनि करते हैं। तपस्वियों की निवासस्थली तो पवित्र होती है। और वनवास तो सात्त्विक वास माना जाता है। क्योंकि ऊँची से ऊँची जाति में उत्पन्न व्यक्ति भी तपस्या करने के लिए वन में निवास करता है। इसीलिए यह 'वन' के साथ 'चरी' जोड़ा है। इसका तात्पर्य है कि वे वन में स्वच्छन्द विचरण करने वाली हैं। उनका सम्बन्ध धर्मशास्त्रप्रतिपादित सात्त्विक वनवास से नहीं है।

(४) **व्यभिचारदुष्टाः**। चौथे विशेषण से गोपियों को मन से भी हीन बताया है। अर्थात् जगत में उनकी व्यभिचारबुद्धि से प्रसिद्धि है।

इस प्रकार जन्म की छोटी जाति के कारण, स्त्रीयोनि के कारण, आचार-विचार से शून्य स्वच्छन्द विहार के कारण तथा मनोवृत्ति की चंचलता के कारण गुण-हीन गोपियों में श्रीकृष्ण के प्रति ऐसा दिव्य तथा प्रगाढ़ प्रेमभाव उद्धव के लिए अत्यन्त आश्चर्य की बात थी। इससे यहाँ यह भाव प्रकट किया गया है कि भगवान् के साक्षात्कार तथा भगवान् की उपलब्धि में जाति, योनि, आचार-विचार तथा शास्त्रीय ज्ञान कुछ भी कारण नहीं बनता। भगवत्प्राप्ति तो केवल भगवान् के अनुग्रह से ही होती है। इसी भाव की पुष्टि प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध में अमृत के दृष्टान्त द्वारा की गई है। जैसे कोई व्यक्ति अमृत के गुण तथा धर्म से सर्वथा अपरिचित होने पर भी अमृतपान करके अमरत्व प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार कोई मूर्ख शिरोमणि भी परमेश्वर के स्वरूप, गुण तथा धर्म से सर्वथा अपरिचित होने पर भी यदि भजन की धारा के साथ चित्त की वृत्ति को एकाकार कर लेता है तो वह परमेश्वर का साक्षात्कार कर लेता है। किन्तु यदि कोई बहुत बड़ा विद्वान् हो, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हो, परमेश्वर के स्वरूप, गुण तथा धर्म की नित्य प्रशस्त व्याख्या करने वाला हो, किन्तु सच्चे भजन के व्यापार से शून्य हो तो भगवान् का साक्षात्कार उससे करोड़ों मील दूर रह जाता है। यही भगवान् की भगवत्ता की अनोखी रीति है। वे तो सर्वतन्त्रस्वरूप हैं। भजन करने वाले मूर्ख को भी तत्काल गले लगाकर उसे परकल्याण प्रदान कर देते हैं, और भजन नहीं करने वाले विद्वान् को भी दर्शन नहीं देते। गोपियों के रूढ़-भाव की यही विशेषता थी कि उनकी चित्तवृत्ति बहिर्मुखी होने पर भी श्रीकृष्णमयी हो जाती थी और सारे जगत् को वे श्रीकृष्णभाव से आपन्न देखती थीं। और चित्त-वृत्ति अन्तर्मुखी होने पर वे परमात्मा में लीन हो जाती थीं। इस प्रकार का दिव्यभाव अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ था।

(६०)

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ॥

अहो ! एकान्तरतिमति भगवती श्रीमहालक्ष्मी को भी यह प्रसाद प्राप्त नहीं है । कमल के समान गन्ध तथा कान्ति वाली स्वर्ग की देवांगनाओं को भी यह प्रसाद प्राप्त नहीं है । अन्यान्य स्त्रियों की तो बात ही क्या है ? जो प्रसाद रासलीला के महोत्सव में श्रीकृष्ण की भुजाओं द्वारा कण्ठालिंगन से पूर्ण मनोरथ वाली व्रज की गोपियों को प्राप्त हो गया था ।

यहाँ निम्नलिखित आशय बोधनीय है :

(१) भगवती महालक्ष्मी नारायण में आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक प्रीतिमयी हैं। वे नारायण के वक्षःस्थल पर नित्य रमण करती हैं । किन्तु उनको ऐसा अनुग्रह-प्रसाद नहीं मिला था जो व्रज की गोपियों को प्राप्त हुआ था ।

(२) स्वर्ग के देवरमणियों के देह से कमल की गन्ध निकलती रहती है । उनकी देहकान्ति कमल की कान्ति को लजाती है । श्रीकृष्ण उनके साथ इन्द्र तथा उपेन्द्र के रूप से रमण करते हैं । किन्तु गोपियों जैसा अनुग्रह-प्रसाद उनको भी अप्राप्त था ।

(३) भगवान् के तत्तदवतारों में भगवत्सम्बन्ध को प्राप्त करने वाली अन्यान्य रमणियों की तो चर्चा ही नहीं है । किसी को भी इस प्रकार का अनुग्रह-प्रसाद नहीं मिला था ।

वास्तव में जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तो भक्त को उसके इष्टस्वरूप का दर्शन मात्र देते हैं । ब्रह्मा आदि देवताओं को भी भगवान् एक समय में एक ही स्वरूप का दर्शन कराया था । किन्तु रासलीला में शतकोटियूथ गोपियों के मण्डल में श्रीकृष्ण ने एक ही समय में एक साथ अनेक रूप धारण कर लिए थे और प्रत्येक दो-दो गोपियों के बीच में प्रविष्ट होकर नृत्य करके उनको लोकोत्तर अनुग्रह-प्रसाद से कृतार्थ किया था ।[1] यह सत्य है कि इस प्रकार के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए गोपियों ने किसी भी उपाय का आश्रय नहीं लिया था । ऐसा अनुग्रह तो भगवान् की इच्छाशक्ति के ही अधीन रहता है ।

(६१)

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।

---

१ देखिए, रासपंचाध्यायी सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १७९-१८० ।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

अहो ! वृन्दावन की इन झाड़ियों, लताओं तथा औषधियों में ही मैं कहीं हो जाऊँ, जिन पर इन गोपियों के चरण की धूलि के कण गिरते रहें। जिन गोपियों ने दुस्त्यज स्वजन तथा शिष्ट मार्ग का त्याग करके मुकुन्द-श्रीकृष्ण के उस स्वरूप को प्राप्त कर लिया था, जिसको साक्षात् वेदों की ऋचाएँ भी ढूंढ़ती रहती हैं।

इस पद्य में मानो उद्धव भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं कि हे भगवान् ! मुझे भी आप वृन्दावन में अपने नित्य परिकर-स्वरूप सखाओं में स्थान दे दो। यदि कहें कि तुम्हारा मेरे नित्यपरिकर का अधिकार कहाँ है, तो उद्धव का कहना है कि अच्छा फिर अपनी गायों में ही स्थान दे दो। यदि श्रीकृष्ण कहें कि गाएँ तो मेरी प्राणप्रिय हैं क्योंकि वृन्दावन में मैं गोपाल-कृष्ण के रूप से ही निवास करता हूँ। तो उद्धव की प्रार्थना है कि अच्छा फिर मुझे वृन्दावन की किसी झाड़ी, लता या वृक्ष में ही जन्म दे दो। किन्तु एक शर्त है कि वह झाड़ी या लता ऐसी जगह हो जहाँ आती-जाती गोपियों के चरण की धूलि के कण मुझ पर गिरते रहें। उद्धव का सोचना है कि मैं कहाँ तक गोपियों की महिमा का वर्णन करूँ। इन्होंने श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए अपने सगे-सम्बन्धियों को छोड़ दिया था। लोककीर्ति तथा लोक-मर्यादा को भी छोड़ दिया था। और इस प्रकार भगवान् के स्वरूप को प्राप्त कर लिया था। इस पद की प्राप्ति का तो मुझे अधिकार नहीं है किन्तु यदि वृन्दावन में वृक्ष रूप से ही रहूँ जहाँ गोपियों की चरणरज गिरती रहे तो मैं अपने आप को धन्य मानूँगा।

(६२)

या वै श्रियार्च्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद् भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु परिरभ्य जहुस्तदाधिम् ॥

भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल श्रीदेवी द्वारा अर्चित थे। ब्रह्मा आदि आप्त-काम योगेश्वरों द्वारा भी मन में ध्याननेत्रों से पूजित थे। रासलीला में भगवान् श्रीकृष्ण के उसी चरण कमल को गोपांगनाओं ने अपने स्तनों पर स्थापित किया था, और इन गोपियों ने उनका आलिंगन करके उस अनिर्वचनीय मानसिक व्यथा का परित्याग कर दिया था।

प्रस्तुत पद्य में श्रीकृष्ण को भगवान् कहाँ हैं और उनके चरणारविन्द की दो विशेषताएँ बताई हैं :

(१) साक्षात् भगवती महालक्ष्मी विष्णु-श्रीकृष्ण के चरणारविन्द को नित्य दबाती रहती हैं।

16081
25-7-15-40

(२) ब्रह्मा आदि पूर्णकाम योगेश्वर देवता भी अपने-अपने ध्याननेत्रों से श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की पूजा करते रहते हैं।

ऐसे चरणकमल को भगवान् श्रीकृष्ण ने रासलीला में शतकोटियूथ गोपियों के स्तनों पर स्थापित किया था। यहाँ 'चरणारविन्द' पद एकवचन में है और 'स्तन' पद बहुवचन में है। इसका तात्पर्य है कि अगणित स्तनों पर चरण स्थापना की त्वरा श्रीकृष्ण के मन में थी। यही त्वरा और एक साथ अगणित स्तनों पर एक चरण की स्थापना श्रीकृष्ण की भगवत्ता को सिद्ध करती हैं। चरण द्वारा स्तनस्पर्श का प्रयोजन गोपांगनाओं के जन्म-जन्म के समस्त कामसंस्कार नष्ट करने में था। भगवान् के अनुग्रह-प्रसाद से ही गोपियों को यह अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ था क्योंकि भगवान् के चरणस्पर्श मात्र से ही गोपियों को भगवत्स्वरूप की प्राप्ति हो गई थी।

(६३)

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

नन्द बाबा के व्रज की स्त्रियों के चरण के (एक) कण को भी मैं बार-बार (करोड़ों बार) प्रणाम करता हूँ। जिनके हरि-कथा (सम्बन्धी) गीत त्रिभुवन को पवित्र कर देते हैं।

गोकुल की गोपियों की लोकोत्तर महिमा का प्रतिपादन करते हुए उद्धव स्वयं को उन्हें प्रणाम करने का भी अधिकारी नहीं समझते। अतः गोपियों की एक ही चरणरेणु को बारम्बार प्रणाम करते हैं। ये गोपांगनाएँ हरि-श्रीकृष्ण की कथाओं के गीत गाया करती थीं। अथवा पापहारी हरि-श्रीकृष्ण की कथा से भी इनके गीत श्रेष्ठ थे। क्योंकि ये गीत त्रिभुवन को पवित्र कर देते थे। ऐसी गोपियों की एक चरणरज को भी बारम्बार प्रणाम करते हुए उद्धव स्वयं को धन्य तथा कृतकृत्य मान रहे थे।

(६४)

श्रीशुक उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम्॥

श्रीशुकदेव बोले—

इसके पश्चात् दाशार्ह उद्धव गोपियों, यशोदा तथा नन्द बाबा की आज्ञा लेकर और गोपों को पूछकर रवाना होते-होते रथ पर चढ़ गए।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का सन्देश गोपियों को सुनाकर कई महिने गोकुल में रहकर, जब उद्धव लौटने लगे तो सबसे पहले उन्होंने गोपियों से जाने की आज्ञा माँगी, क्योंकि गोपियाँ भगवान् की प्राणप्रियाएँ थीं। फिर यशोदा मैया से आज्ञा माँगी, क्योंकि यशोदा मैया श्रीकृष्ण की अत्यन्त पूजनीय थीं। फिर नन्द बाबा से

आज्ञा माँगी। यहाँ गोपियों, यशोदा मैया तथा नन्द बाबा के प्रति क्रम से पूज्य भाव प्रकट किया गया है। अन्त में गोपों से विदा ली। गोप तो भगवान् के मित्र तथा सखा थे। अतः उद्धव उनकी बराबरी के थे। उनको उद्धव ने केवल इतना ही कहा कि 'अच्छा चलता हूँ', और रथ पर बैठ गए।

(६५)

तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः॥

(अकस्मात्) उद्धव को रवाना होते हुए जानकर नन्द बाबा आदि सबकी आँखें आँसुओं से भर गईं और वे अपने-अपने हाथों में अनेक प्रकार की भेंट-सामग्री लिए हुए उद्धव को कहने लगे।

उद्धव के गोकुल से चले जाने के लिए तैयार होना किसी को भी अच्छा नहीं लगा। क्योंकि वे नित्य श्रीकृष्ण की कथा सुना-सुनाकर समस्त गोकुलवासियों तथा विशेषतः गोकुल की स्त्रियों का मन श्रीकृष्णमय बनाए रखते थे। विशेष रूप से गोपियों को उद्धव की उपस्थिति से श्रीकृष्ण के विरहताप की याद ही नहीं आती थी। अतः जब एक दिन उद्धव अचानक गोकुल से रवाना होने लगे तो सबकी आँखों से लगातार आँसुओं की धारा बहने लगी और सब गोकुलवासी हड़बड़ाकर उद्धव को कुछ न कुछ भेंट-सामग्री देने के लिए दौड़ पड़े। उनके कण्ठ गद्गद हो गए। गला भर आया और उन्होंने निम्नलिखित दो पद्यों में अपने दो सन्देश श्रीकृष्ण के लिए भेजे।

(६६)

मनसो वृत्तयो न स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥

हमारी चित्त की वृत्तियाँ श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का आश्रय लिए रहें। हमारी वाणी श्रीकृष्ण के नाम का कीर्तन करती रहे। और हमारा शरीर श्रीकृष्ण को प्रणाम करता रहे और उनकी पूजा करता रहे।

गोकुलवासियों के पहले सन्देश का सम्बन्ध मन, वचन तथा कर्म से था। इस सन्देश के बहाने व्रजवासियों ने भगवान् श्रीकृष्ण से निम्नलिखित तीन वरदान माँगे थे:

(१) हमारी मन की वृत्तियाँ निरन्तर सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का चिन्तन करती रहें। अर्थात् हमारे चित्त में जो-जो वृत्ति उत्पन्न हो वह श्रीकृष्ण का ही आश्रय लेकर उत्पन्न हो। अन्य किसी का आलम्बन ग्रहण नहीं करे।

(२) हमारी वाणी निरन्तर श्रीकृष्ण के नाम का कीर्तन करती रहे।

(३) हमारा शरीर निरन्तर श्रीकृष्ण को प्रणाम करता रहे और श्रीकृष्ण की नित्य पूजाचर्या में लगा रहे।

श्रीमद्भागवत के भ्रमरगीत के इसी पद्य के आशय को लेकर श्री पुरुषोत्तमाचार्य

ने अपनी 'विष्णुभक्तिकल्पलता' नामक ग्रन्थ में एक अत्यन्त रमणीय शिखरिणी लिखी है। पाठक इसकी मधुर पदावली तथा भक्तिभावमयी कमनीय विचारगरिमा का रस-पान करें। यह शिखरिणी निम्नलिखित है :

'अपीदं चेतो मे हरिचरितपीयूषलहरी–
परीरम्भाभोगप्रसृमरमहानन्दसुभगम्।
अपीयं जिह्वा मे नरकरिपुनामव्यसनिनी
भवेदद्धा बद्धाञ्जलिकरसरोजद्वयमिदम्॥'

शिखरिणी का यह भाव है। 'मेरा यह चित्त हरि-श्रीकृष्ण के चरितामृत की लहरों के आलिंगन के विस्तार से फैलते हुए महान् आनन्द से प्रसन्न रहे। मेरी यह जिह्वा नरकासुर-श्रीकृष्ण के नाम (-कीर्तन) की व्यसनिनी हो जाय, और मेरे दोनों हाथ हमेशा तत्काल प्रणाम करने के लिए अंजलि के रूप में जुड़े रहें।'

(६७)

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥

हमारे ही प्राक्तन शुभाशुभ कर्मों के कारण ईश्वर की इच्छा से जहाँ कहीं भी हमें भटकना पड़े, वहीं मांगलिक आचरणों से तथा दान से ईश्वर-श्रीकृष्ण में ही हमारी रति रहे।

पहले सन्देश से व्रजवासियों ने अपने मन, वचन तथा कर्म को श्रीकृष्ण के अर्पण कर दिया था। किन्तु उनके हृदय में इस समर्पणात्मक क्रिया से स्वर्ग के सुख-भोग अथवा मोक्ष की लेशमात्र भी इच्छा नहीं थी। उनका चित्त तो श्रीकृष्णविषयिणी रति का प्यासा था। अतः प्रस्तुत पद्य में दूसरे सन्देश द्वारा प्रथम सन्देश के फल को माँगा है।

इस संसार में किसी भी व्यक्ति के जन्म तथा सुख-दुःख का मूल कारण उसी व्यक्ति के जन्मान्तर में किए गए सुकृत तथा दुष्कृत होते हैं। ईश्वर उन-उन कर्मों के फलों के प्रदाता हैं। व्रजवासियों का कथन है कि भविष्य में जहाँ कहीं भी उनके जन्म हों वहीं उनका चित्त मांगलिकी श्रीकृष्णपूजा का आचरण करता रहे। इस आचरण से तथा दानोपलक्षित धर्माचरण से जन्म-जन्म में उनकी रति ईश्वर-श्रीकृष्ण के चरणों में उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।

(६८)

एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप !।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम्॥

हे राजन् ! इस प्रकार गोपों द्वारा श्रीकृष्ण की भक्ति से संपूजित उद्धव श्रीकृष्ण द्वारा परिपालित मथुरा नगरी में वापिस आ गए।

व्रजवासी श्रीकृष्ण की भक्ति से ओतप्रोत थे। उन्होंने दो सन्देशों के साथ

उद्धव को विदा किया। विदाई की पूजा-सामग्री केवल श्रीकृष्णभक्ति ही थी, क्योंकि उनके मन में श्रीकृष्णभक्ति से बढ़कर अन्य कोई भी पूजा-सामग्री नहीं हो सकती थी। अथवा व्रजवासियों ने उद्धव का श्रीकृष्णभक्ति से इसलिए सम्मान किया था कि उनको श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य स्वरूप से कोई प्रयोजन नहीं था। उनका मन तो श्रीकृष्ण की मधुर भक्ति का ही खरीददार था। यदि कहें कि जब व्रजवासियों तथा गोपियों की भक्ति इतनी उत्कृष्ट थी तो उद्धव मथुरा गए ही क्यों, गोकुल में ही रह जाते और कृष्णकथा का गान करते-करते तथा कृष्णलीलाचिह्नों का दर्शन करते-करते व्रज के दिव्य भक्तों के साथ जीवन बिता देते। इसका उत्तर है कि इस पद्य में इसीलिए 'कृष्णपालिताम्' यह मथुरा का विशेषण दिया है। उद्धव श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त-अनुचर थे। श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर गोकुल आए थे और श्रीकृष्ण की नित्य सन्निधि ही उनके जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि थी।

(६९)

कृष्णाय प्रणिपत्याह भत्युद्रेकं व्रजौकसाम्।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥

उद्धव ने श्रीकृष्ण को तो प्रणाम करके व्रजवासियों की भक्ति के उद्रेक को निवेदन किया, और वसुदेव, बलराम तथा महाराज उग्रसेन को (व्रजवासियों द्वारा प्रेषित) भेंट-सामग्री समर्पित की।

यह नियम है कि जहाँ अतिशय प्रेम होता है वहाँ भेंट-उपहार का कोई मूल्य नहीं होता। भेंट-उपहार तो केवल व्यवहार का उपचारमात्र होता है। व्रजवासी श्रीकृष्ण के प्रेमी थे और श्रीकृष्ण के प्रेम के भूखे थे। अतः श्रीकृष्ण के लिए उन्होंने कोई उपहार नहीं भेजा था। श्रीकृष्ण के प्रति केवल अपने अनन्त प्रेम तथा निष्काम भक्ति का सन्देश भेजा था। हाँ, वसुदेव के प्रति उपहार थे, क्योंकि वसुदेव तो नन्द बाबा के पुराने दोस्त थे। बलराम के लिए भी उपहार थे क्योंकि बलराम व्रजवासियों के सखा थे। सखा के प्रति उपहार स्नेह का प्रतीक होता है। महाराज उग्रसेन के लिए भी उपहार थे, क्योंकि उग्रसेन राजा थे। राजा के प्रति उपहार आदर का प्रतीत होता है। श्रीकृष्ण तो व्रजवासियों के अपने अनन्य थे। व्रजवासियों के अभिन्न थे। व्रजवासी श्रीकृष्ण को भी व्रजवासी ही मानते थे। ऐसे व्रजवासी श्रीकृष्ण की जय हो। श्रीकृष्ण के सन्देशवाहक उद्धव की जय हो। व्रजवासी भक्तों की जय हो। भक्तिस्वरूपा परमसाध्वी तथा परमपूज्य श्रुतिरूपिणी गोपियों की जय हो।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उद्धवप्रतियाने सप्तचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत महापुराण अथवा पारमहंसी संहिता के दशमस्कन्ध में उद्धवप्रतियान में सैंतालीसवें अध्याय में 'भ्रमरगीत' की श्रीमती गीता देवी द्वारा लिखित हिन्दी अनुवाद-व्याख्या समाप्त होती है।

LIBRARY
Acc. No.....

श्लोकानुक्रमणी

	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
अथ गोपीरनुज्ञाप्य	६४	७१
अथोद्धवो निशम्यैवं	२२	४१
अन्यथा गोव्रजे	५	७
अन्येष्वर्थकृता	६	८
अपि वत मधुपुर्या०	२१	३८
अपि स्मरति नः	४२	५६
अप्येष्यतीह	४४	५८
अहो यूयं स्म	२३	४२
आत्मा ज्ञानमयः	३१	४९
आसामहो चरण०	६१	६९
इति गोप्यो	९	१२
उवास कतिचिन्मासान्	५४	६४
एतदन्तः समाम्नायो	३३	५१
एताः परं तनुभृतो	५८	६६
एवं प्रियतमारिष्ट०	३८	५४
एवं समाजिता०	६८	७३
क उत्सहेत	४८	६०
कच्चिद् गदाग्रजः	४१	५६
कथं रतिविशेषज्ञः	४०	५५
कर्मभिर्भ्राम्य०	६७	७३
कस्मात् कृष्ण०	४५	५९
काचिन्मधुकरं	११	१३
किमस्माभिर्वनौकौ	४६	५९
किमिति बहु	१४	२१
कृष्णाय प्रणिपत्याह	६९	७४
क्वेयाः स्त्रियो	५९	६७
खगा वीतफलं	८	९
गत्या ललितयोदार०	५१	६२
गायन्त्यः प्रिय०	१०	१३
जानीमस्त्वां	४	५
ततस्ताः प्रिय०	५३	६३
तथाहं च मनः	३०	४८
तं निर्गतं	६५	७२

	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
तं प्रश्रयेणावनताः	३	४
तं वीक्ष्य	१	१
ताः किं निशाः	४३	५७
दानव्रततपोहोम०	२४	४२
दिवि भुवि च	१५	२४
दिष्टचाऽहितो	३९	५५
दिष्टया पुमान्	२६	४५
दृष्ट्वैवमादि गोपीनां	५७	६५
नामं श्रियोऽङ्ग०	६०	६९
निस्वं व्यजन्ति	७	९
परं सौख्यं हि	४७	६०
पुनः पुनः स्मारयन्ति	५०	६२
पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः	२०	३५
भगवत्युत्तमश्लोके	२५	४४
भवतीनां वियोगो	२९	४७
मधुप ! कितवबन्धो !	१२	१४
मनसो वृत्तयो	६६	७२
मय्यावेश्य मनः	३६	५३
मृगयुरिव कपीन्द्रं	१७	२९
यत्त्वहं भवतीनां	३४	५१
यथा दूरचरे	३५	५२
यदनुचरितलीला०	१८	३१
या मया क्रीड़ता	३७	५३
यावन्त्यहानि०	५५	६४
या वै श्रियार्च्चित०	६२	७०
येनेन्द्रियार्थान्	३२	५०
वन्दे नन्दव्रज०	६३	७१
वयमृतमिव	१९	३३
विसृज शिरसि	१६	२६
शुचिस्मितः	२	२
श्रूयतां प्रियसन्देशो	२८	४६
सकृदधरसुधां	१३	१८
सरिच्छैलवनोद्देश	४९	६१
सरिद्वनगिरि०	५६	६५
सर्वात्मभावोऽधिकृतो	२७	४५
हे नाथ ! हे रमानाथ !	५२	६२

GURUVAYOOR KELAPPAJI SANSKRIT VIDYAPEETHA
LIBRARY
Acc. No. 16081
Date 25-5-96
P.O. PURANATTUKARA THRISSUR-KERALA

CSUQCKL
Q22:223 2
16081
Acc.No: 16081